卍 सर्वेश्वर श्री सीतारामाभ्यां नमः 卍

श्रीहनुमते नमः

卐 प्रस्थानत्रयानन्दभाष्यकाराय नमोनमः 卐

श्रीमद्भगवद्रामानन्दाचार्यकृतानन्दभाष्यविभूषिता

ईशावास्योपनिषत्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

श्रीरामाय नमः

आनन्दभाष्यसिंहासनासीन

जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यश्रीरामेश्वरानन्दाचार्य

卐 प्रणीता लघुदीपिका 卐

सीतारामसमारम्भां शुकबोधायनान्विताम् ।
रामानन्दार्यमध्यस्थां वन्दे गुरुपरम्पराम् ॥

वह परमपुरुष परमात्मा श्रीसाकेताधिपति पूर्ण हैं । तथा यह जो कार्य ब्रह्म है वह भी पूर्ण है। पूर्ण परमात्मा कारण ब्रह्म श्रीरामजी से पूर्ण यह कार्य ब्रह्म प्रस्फुटित होता है । प्रलय के समय में पूर्ण जो परमपुरुष सर्वेश्वर श्रीरामचन्द्रजी हैं वे ही केवल अवशिष्ट रह जाते हैं ।

मुक्तिः काशीमृतानां मृतिसमयशिवप्रत्ययन्मन्त्रशक्तेः
यन्नामग्राहमन्तर्मुमुदितपुलकः सास्रुनेत्रस्त्रिनेत्रः ।
साकेतेशः समस्तश्रुतिसकलशिरोऽभ्यस्तमाहात्म्यभूमि-
र्भव्यायास्माकमास्तामनुपधिकरुणो भूमिजाभूषिताङ्गः ॥१॥

❀ सर्वेश्वर श्री सीतारामाभ्यां नमः ❀

श्रीहनुमते नमः

❀ आनन्दभाष्यकार जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्याय नमोनमः ❀

आनन्दभाष्यसिंहासनासीन

जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यश्रीरामेश्वरानन्दाचार्यप्रणीत

卐 प्रकाश 卐

सीतारामसमारम्भां शुकबोधायनान्विताम् ।
रामानन्दार्यमध्यस्थां वन्दे गुरुपरम्पराम् ॥

काशी में मरने से 'मुक्ति-जीवात्मा श्रीरामसायुज्य प्राप्त करलेता है' इस मन्त्र की शक्ति को प्रमाणित करते हुये श्रीशिवजी जिस सर्वेश्वर श्रीरामचन्द्रजी का नाम हार्दिक भाव से अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक तीनों नेत्रों से अश्रु वहाते पुलकित-अङ्ग अङ्ग रोमाञ्चित होकर सदा जप करते हुये अन्य जीवों को भी सदा श्रीरामनाम जप का उपदेश देते हैं ऐसे श्रीशंकरजी से आराधित समस्त श्रुतियों के शिर-उपनिषदों आदि से वार-वार जिनका विशिष्ट महत्वों का वर्णन किया गया है परमकारुणिक जीवात्मा मात्रों पर विशेष करुणा-कृपा की वर्षा करने वाले भूमि विदीर्ण कर उत्पन्न सर्वेश्वरी श्रीसीताजी से विभूषित अङ्गवाले-वामांक में विराजित श्रीसीताजी से शोभित दिव्य देह वाले शरणागतवत्सल करुणामूर्ति सर्वेश्वर श्रीरामजी आराधना करने

वाले हम सबों का कल्याणकारक हों। इस श्लोक द्वारा साक्षात् सायुज्य मुक्ति दातृत्व श्रीरामजी में है अन्य में नहीं यह आनन्दभाष्यकारजी ने व्यक्त किये। एवं श्रीरामतापनियोपनिषद् के प्रसंगानुसार सर्वेश्वरश्रीरामजी के आराधक तथा श्रीराममहामन्त्र के जापक और षडक्षर श्रीराम मन्त्रराज के उपदेशक आचार्य श्रीशंकरजी हैं यह स्फुटित कर साकार दिव्यशरीरक परब्रह्म श्रीरामजी की ही आराधना-उपासना हो सकती है निराकार की नहीं यह स्थिर किये हैं जो आगे आनन्दभाष्यों एवं उसकी टीका प्रकाश में स्फुटित होता जायगा ॥१॥

आराध्यं ब्रह्मरुद्रादेर्जगद्धेतुं च मुक्तिदम्।
दिव्यदेहं गुणाम्भोधिं रामं ब्रह्म समाश्रये ॥२॥

जो सर्वेश्वर परब्रह्म श्रीरामजी हैं वे श्रीब्रह्मा श्रीशंकर प्रभृति सभी देवगणों से आराधनीय हैं एवं '**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते**' इस श्रुति तथा '**जन्माद्यस्य यतः**' इस ब्रह्मसूत्र के अनुसार सम्पूर्ण स्थूल सूक्ष्म स्थावर जङ्गम संसार का अभिन्न निमित्तोपादान कारण हैं। शरणागत-उपासक वर्ग को सायुज्य मोक्ष प्रदान करनेवाले हैं। इस कथन से-'**तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय**' इत्यादि श्रुतिसमूह को स्मरण दिलाया गया है। एवं जो श्रीरामजी दिव्य देह को

धारण करने वाले हैं अप्राकृत लोकोत्तर श्रीविग्रह को धारण करनेवाले श्रीरामजी हैं इस विशेषण से शरीर रहित परब्रह्म श्रीरामजी हैं **'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते'** इस श्रुति का अन्यथा अर्थ घटनकर मानते हैं उस मत का निराकरण किया गया है। इस श्रुति में जो शरीर रहितत्व का प्रतिपादन किया गया है उसका तात्पर्य यह है कि प्राकृतिक शरीर वर्जित परब्रह्म श्रीरामजी हैं, यह अर्थ देह का विशेषण दिव्य शब्द से प्राप्त होता है । सर्वेश्वर श्रीरामजी गुणों के समुद्र हैं इस विशेषण से निर्गुण ब्रह्मवाद का खण्डन हो जाता है। यद्यपि **'अस्थूलमनणु'** इत्यादि श्रुति से गुणवत्व का निराकरण ब्रह्म में होता है तथापि प्रकृत श्रुति प्राकृतिक हेय गुणों का ही निराकरण करती है परन्तु अनन्य साधारण जो सत्य कामत्वादिक गुण समुदाय हैं उनका निराकरण नहीं करती है। अन्यथा परब्रह्म श्री रामजी में गुणवत्व प्रतिपादक अनेक श्रुतियों का वाध हो जायगा अतः समस्त श्रुतियों का समन्वय हो जाने से उक्त अर्थ का लाभ होता है। एतादृश परमपुरुष सर्वेश्वर श्रीरामजी का मैं आश्रय लेता हूँ यानी सर्वशरण्य श्रीरामजी का शरणागत होता हूँ क्योंकि परमेश्वर श्रीरामजी की प्रपत्ति से ही जीवों की सायुज्य मुक्ति होती है ऐसा वेदादि शास्त्रों का सिद्धान्त है ॥२॥

सूत्रवृत्तिकृतौ नत्वा व्यासबोधायनौ मुनी ।
श्रीमन्तं राघवानन्दाचार्यं गुरुं नमाम्यहम् ॥३॥

ब्रह्मसूत्र एवं उन सूत्रों के ऊपर वृत्ति लिखनेवाले भगवान् व्यासजी तथा महर्षि श्रीबोधायनजी को सादर नमन करके जगद्गुरु श्रीराघवानन्दाचार्यजी महाराज को सादर प्रणाम करता हूँ। इस तृतीय श्लोक से '**यस्य देवे पराभक्ति यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः**' इस श्रुति वाक्य को भाष्यकारजी साधकों को स्मरण कराते हैं क्योंकि देव एवं गुरुदेव में भक्तिमान् पुरुष का ही श्रुत ब्रह्मतत्त्व या निबन्ध लोक में प्रसिद्ध या प्रकाशित होता है ॥३॥

कुर्वे गुरुं नमस्कृत्य ज्ञानभक्तिदयानिधिम् ।
ईशावास्योपनिषदो भाष्यमानन्दसंज्ञकम् ॥४॥

ज्ञान एवं भक्ति तथा दया के समुद्र समान जगद्गुरु श्रीराघवानन्दाचार्यजी को सादर प्रणतिकरके सर्वशास्त्र सम्मत मनोहर शब्दतः तथा अर्थतः सरल गूढार्थ गर्भित **ईशावास्योपनिषद्** का आनन्दभाष्य को मैं श्रीरामानन्दाचार्य बनाता हूँ। इससे यह अभिव्यक्त होता है कि श्रीसम्प्रदाय के परमाचार्य महर्षि श्रीबोधायनजी के बोधायनवृत्ति के अनन्तर ब्रह्मसूत्रों पर वेदशास्त्रानुकूल सुव्यवस्थित भाष्य की रचना नहीं हुई थी अतः आचार्य

श्री ने ब्रह्मसूत्रों एवं सभी उपनिषदों पर आनन्दभाष्य का प्रणयन किया। जगद्विजयी शतावधानी महामहोपाध्याय जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरघुवराचार्यजी वेदान्तकेसरी ने '**येनार्येण कृतं समोपनिषदि प्रेम्णान्च भाष्यं बृहत्**' आचार्यस्तुति प्रकरण में ऐसा लिखा है। सम्प्रति जगदाचार्य श्री के ब्रह्मसूत्र ईश केन कठ प्रश्न मुण्डक माण्डूक्य तैत्तिरीय ऐतरेय छान्दोग्य बृहदारण्यक एवं श्वेताश्वतर उपनिषदों तथा गीता का आनन्दभाष्य प्रकाशित एवं उपलब्ध हैं। इन सभी आनन्दभाष्यों का सार बोधक श्रीरामार्चनपद्धति के साथ श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर कई टीकाओं के साथ प्रकाशित है ॥४॥

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्१

इस संसार में जो कुछ स्थावर जङ्गम पदार्थ है वह परमपुरुष परमात्मा श्रीरामजी से व्याप्त है अर्थात् नियन्त्रित है। अतः उस सर्वनियन्ता से प्रदत्त वस्तुओं का भोग भगववत् बुद्धि से यानी श्रीरामजी को भोग लगाकर ही करो। स्वसम्बन्धी अथवा परसम्बन्धी किसी पदार्थ की अभिलाषा मत करो। क्योंकि यह धन किसी का भी नहीं है यानी श्रीरामजी का है अर्थात् अन्य किसी का भी स्वतन्त्र धन नहीं है ॥१॥

ब्रह्मविद्योपदेशाय प्रवृत्तायामस्यामुपनिषदि प्रथम तः स्वतन्त्रात्मतादिभ्रमवन्तं संसारानलपरितप्तं तत्त्व-जिज्ञासया शरणमुपागतं शिष्यं प्रति तादृशभ्रमनिवृत्ति

फलकं सर्वस्य भोक्तृभोग्यवर्गस्य परमपुरुषाधीनत्वं मुमुक्षोचितांवृत्तिञ्च गुरुरुपदिशति-

(ईशेति)-जगत्यां पृथिव्याम् इह लोके, एतस्य लोकान्तरोपलक्षणतया परलोकेऽपि यत्किञ्च चिदचिद् रूपं जगत् अन्यथाभावं प्राप्नुवत् अस्तीत्यध्याहारः सर्वमिदम् ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तम् । ईशा ईष्ट इति ईट् तेन सर्वनियामकेन परमपुरुषेण श्रीरामाख्येन वास्यम् व्याप्यम् नियाम्यमिति भावः । एतेन चिदचिद् रूपस्य समस्तस्य जगतः परमात्माधीनत्वप्रदर्शनात् स्वातन्त्र्यभ्रम निवृत्तिरुपदिष्टा । अत्र अचित्पदार्थस्य अन्यथाभावः स्व रूपविकाररूपः स च भोग्यतासम्पत्तये भवति । चित्प दार्थस्य नित्यत्वात् स्वरूपविकारो न सम्भवति, अतः तस्य अन्यथाभावः ज्ञानसंकोचविकासादिरूपस्वभाव विकारात्मकः । सोऽपि भोक्तृत्वसम्पत्तये । अत उभय मपि जगत् इत्यनेन संगृहीतम् इतिध्येयम् । एवं पूर्वार्धेन परमात्माधीनत्वमुदिश्य मुमुक्षानुकूलां वृत्तिमुत्तरार्धेन उपदिशति-

(तेनेति)-तेन सर्वनियन्त्रा परमपुरुषेण त्यक्तेन दत्तेन भगवदिच्छया संप्राप्तेन वस्तुना भुञ्जीथाः भोगं कुर्वीथाः। भगवदुपासनोपयुक्तदेहधारणमात्रोपयोगिपदार्थमनुभ वेत्यर्थः। यद्वा तेन जगता दुःखमूलत्वस्वाभाविक-

ब्रह्मानन्दानुभवविरुद्धादिदोषचिन्तनपूर्वकं मनसा त्यक्तेन भोग्यभूतेन उपलक्षितः सन् भुञ्जीथाः भोग्यजातं मनसा त्यक्त्वा शास्त्राऽविरुद्धं भोगमनुतिष्ठेत्यर्थः ।

(मा गृधः कस्यस्वित्) कस्यापि स्वसम्बन्धिनः असम्बन्धिनो वा धनं द्रव्यं मा गृधः मा कांक्षीः । गृधु अभिकांक्षायामित्यस्मात् लुङ् । यद्वा मा गृधः सर्वथा अभिलाषां मुञ्च, कुत इत्यपेक्षायामाह-कस्यस्वित् अत्र स्वित् इति निपातः आक्षेपार्थः । तेन धनमिति किं कस्य चित् अस्ति अर्थात् न कस्यापि धनम् यतः परमपुरुषस्य सर्वान्तः प्रविष्टत्वात् सर्वमेव तस्य शरीरम् तस्मात्सर्वं ब्रह्मात्मकम् इति किमपि कस्यापि भोग्यं नास्तीत्यतः परमात्मभिन्नसर्वविषयामाशां परित्यजेत्यर्थः । अत्र जगत्पदेन भोक्तृभोग्ययोः ईशेत्यनेन ईश्वरस्य च कथनात् चिदचिदीश्वररूपं तत्त्वत्रयम्-ईशेशितव्यभेदश्च उक्तो भवति । ईशावास्यमित्यनेन अन्तः प्रविश्य नियमनं व्यज्यते ॥१॥

ब्रह्मविद्या का उपदेश करने के लिये प्रवृत्त इस ईशोपनिषत् में प्रथमतः 'यह जीवात्मा स्वतन्त्र है' इत्याकारक भ्रमवान् एवं संसारानल से संतप्त तत्त्व जिज्ञासा से शरण में आया हुआ जो शिष्य है उसके प्रति तादृश भ्रम की जो निवृत्ति तत्फलक सब भोक्ता भोग्य को परम पुरुष की

अधीनता तथा मोक्षोचितवृत्ति के लिये गुरु महाराज़ के उपदेश को श्रुति बतलाती है '**ईशावास्यम्**' इत्यादि से। जगती पृथिवी में इस लोक में। यहां इह लोक पद लोकान्तर का भी संग्राहक है। अतः यह अर्थ होता है कि इस लोक में तथा परलोक में भी जो कुछ चित् अचित् रूप जगत् है। एक स्वरूप से स्वरूपान्तर की प्राप्तिरूप अन्यथा भाव को प्राप्त करनेवाला है। यहां-'**अस्ति**' इस क्रिया का अध्याहार करना चाहिये। सब यह कार्य ब्रह्म से लेकर स्तम्ब तृण वनस्पति वस्तु जात जो है वह-'**ईशा**' ईश्वर से। सब पदार्थ का निमन्त्रण करे जो उसे ईश कहते हैं। उस सर्वनियामक परमपुरुष सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् भगवान् साकेताधिपति श्रीरामजी से व्याप्त है अर्थात् नियम्य है।

चित् अचित् रूप जो यह जगत् है वह परमपुरुष के अधीन में है एतादृश कथन से जीव को जो स्वतन्त्रता का भ्रम है उसकी निवृत्ति का उपदेश किया गया-'**ईशावास्यम्**' एतादृश मन्त्र भाग से। यहां अचित् पदार्थ जो है उनका जो अन्यथाभाव अर्थात् स्वरूप में विकार होता है वह उन पदार्थों में भोग्यता का सम्पादक है (जैसे मृत्तिका का घटरूप से जो अन्यथाभाव होता है तभी जलाहरणादि भोगोपयोगित्व होता है।) यद्यपि चित् पदार्थ नित्य है तो उसका स्वरूप में विकार लक्षण अन्यथाभाव तो नहीं होता है। तथापि ज्ञान

का संकोच विकाश लक्षण अन्यथाभाव तो होता है। चित् पदार्थ में जो एतादृश अन्यथाभाव होता है वह जीव में भोक्तृत्व का सम्पादन करने के लिये है। अन्यथा नित्य में भोक्तृत्व असम्भवित हो जाता। अतः यह चित् तथा अचित् दोनों पदार्थ-**'जगत्'** इस पद से संगृहीत हो जाता है। जो जायमान हो उसे जगत् कहते हैं उसमें अचित् पदार्थ तो स्वरूपतः उत्पन्न होता है और चित्पदार्थ स्वकीय धर्म विशिष्ट रूपसे समुत्पन्न होता है अतः जगत् पद से दोनों का चित् अचित् का संग्रह हो जाता है।

मन्त्र के पूर्वार्द्ध भाग से पदार्थ मात्र परमात्मा के अधीन में हैं इस बात का उपदेश करके तदनन्तर मुमुक्षु के अनुकूल अर्थात् उपयोगी वृत्ति का उपदेश मन्त्र के उत्तरार्ध भाग से बतलाने के लिये कहते हैं-**'तेन'** इत्यादि से। तेन अर्थात् सर्वनियन्ता परमपुरुष से **'त्यक्तेन'** दिये हुए से अर्थात् भगवान् की इच्छा से संप्राप्त वस्तुओं के द्वारा भोग करो जीवन यात्रा को चलाओ। अर्थात् भगवान् परमपुरुष की उपासना करने में उपयोगी देह धारण मात्र में उपयोगी पदार्थों का अनुभव करो। अथवा जगत् में दुःखमूलत्व तथा स्वाभाविक ब्रह्मानुभव में विरुद्धत्वादि दोष चिन्तनपूर्वक उस मन से त्यक्त भोग्यरूप वस्तुओं से उपलक्षित होते हुए भोग करो अर्थात् भोग्य वस्तुओं को मन से त्याग करके शास्त्र से

अविरुद्ध भोग करो । **'मा गृधः कस्यस्वित्'** स्वसम्बन्धी परसम्बन्धी किसी के भी धन द्रव्य की आकांक्षा नहीं करो। गृधु अभिकांक्षायाम् धातु के लुङ् लकार का अगृधः यह रूप है। अथवा मा गृधः इसका अर्थ यह है कि सर्वथा अभिलाषा का त्याग कर दो। क्यों सर्वथा अभिलाषा को छोड दें इसके उत्तर में कहते हैं-**'कस्यस्वित्'** यहां स्वित् यह निपात आक्षेपार्थक है। तो क्या यह धन किसी का है अर्थात् किसी का भी धन नहीं है। जिस लिये परमपुरुष को सर्वान्तः प्रविष्ट होने से सब पदार्थ उस परमपुरुष का शरीर अवयवरूप है इसलिये सब पदार्थ ब्रह्मात्मक है। अतः कोई भी पदार्थ किसी का भोग्य नहीं है अतः परमात्मभिन्न सर्व विषयक आशा का परित्याग करो।

यहां जगत् पद से भोक्ता तथा भोग्य चेतनाचेतन पदार्थ का और ईशा पद से परमेश्वर का कथन होने से चित् अचित् तथा ईश्वररूप तीन तत्त्व कथित होता है। तथा ईश एवं ईशितव्य में भेद का भी प्रतिपादन किया गया है। **'ईशावास्यम्'** इससे पदार्थों के अन्तः प्रविष्ट हो करके नियमन करना अभिव्यक्त होता है। एतावता विशिष्टाद्वैतवाद श्रुति सिद्ध है ऐसा बतलाया गया। नतु मतान्तर के समान स्वकीय तर्क रूप स्तम्भ मात्र पर आधारित है ॥१॥

ब्रह्मविद्यांगभूतं कर्म मुमुक्षुणापि यावज्जीवं कर्तव्य मेवेति उपदिशति-

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥

फलप्राप्ति की इच्छा बिना श्रीरामार्पण बुद्धि से कर्म करते हुए ही इसलोक में सौ वर्ष पर्यन्त जीवित रहने की इच्छा करें । ऐसा करने से नराभिमानी व्यक्तियों में अशुभ कर्म का लेप नहीं होगा । इससे अन्य कोई प्रकार नहीं है ॥२॥

शतं समाः शतसंवत्सरान् यावत्-उपलक्षणमेतत् यावज्जीवमित्यस्य, मनुष्याणां शतायुष्ट्वश्रवणात्तु एवमुक्तम् शतं समा इति । कर्माणि नित्यनैमित्तिकानि अहरहः सन्ध्यामुपासीत, राहूपरागे स्नायादित्यादि विधिवाक्यविहितानि सन्ध्योपासनादीनि कुर्वन् आच रन्नेव इहलोके जिजीविषेत् जीवितुमिच्छेत्, विद्यापूर्ति पर्यन्तं ब्रह्मविदोऽपि जीवनेच्छासम्भवात् । विद्यासम्प-त्तये फलासक्तिकर्तृत्वाभिमानराहित्येन नित्यनैमित्तिक-कर्माणि मुमुक्षुणा यावज्जीवमनुष्ठेयान्येव विद्याङ्ग कर्मणः त्यागस्य विद्यासिद्धिविरोधित्वादितिभावः । त्वयि ईश्वरपारतन्त्र्यज्ञानवत्तया ईश्वराज्ञापालनाकृते त्वयि एवम् यावज्जीवं कर्मानुष्ठानमेव युक्तम्, इतः फलाभिसन्धिरहितविद्याङ्गकर्मानुष्ठानात् अन्यथा प्रका

रान्तरम् नास्ति, भगवदाज्ञापालनमेव भगवत्तोषकारणं तत्परतन्त्राणाम् नान्यत् किमपि कारणम् । अतः तदज्ञारूपकर्म यावज्जीवमनुष्ठेयमेवेतिभावः । कर्मा नुष्ठानेन तत्फलबन्धः स्यादिति भयं न कार्यमित्याह 'न कर्म लिप्यते नरे' युक्तविद्याविरुद्धकर्मफलेषु न रमते इति नरः तस्मिन्नरे विद्याङ्गतया क्रियमाणं निष्कामं कर्म न लिप्यते न बन्धाय भवति, रागोपहितं हि यागादिकर्म बन्धहेतुर्भवति । परमात्मव्यतिरिक्तसर्वविष यविरक्तस्य स्वरूपतः कर्मबन्धहेतुर्न भवतीत्यर्थः ॥२॥

ब्रह्मविद्या के अङ्गभूत जो नित्य नैमित्तिकादि कर्म हैं तादृश कर्म का अनुष्ठान मुमुक्षु को भी अवश्यमेव करना चाहिये इस बात का उपदेश करने के लिये कहते हैं- 'कुर्वन्नेवेहेत्यादि' शत संवत्सर पर्यन्त । यह यावत् जीवन का उपलक्षक है क्योंकि मनुष्य की आयु सौ वर्ष की है ऐसा शास्त्र में सुना गया है । इसलिये शतं समाः ऐसा कहा गया है । 'कर्माणीति' नित्य नैमित्तिक कर्म 'प्रति दिनसन्ध्यावन्दन उपासना करना' चन्द्रमा सूर्य में राहूपराग (ग्रहण) होने पर स्नान करें । इत्यादि विविध वाक्य से बोधित कर्म का अनुष्ठान करता हुआ । इस लोक में जीवित रहने की इच्छा रखें । विद्या की पूर्ति पर्यन्त ब्रह्मज्ञानी को भी जीवन विषयक इच्छा संभवित है ।

ब्रह्मविद्या की सम्पत्ति प्राप्ति के लिये फल में आसक्ति तथा आत्मा में कर्तृत्वाभिमान रहित हो करके नित्य नैमित्तिक कर्म का अनुष्ठान मुमुक्षु को यावज्जीवन अवश्यमेव कर्तव्य है। क्योंकि विद्या का अङ्गभूत जो कर्म है उसका त्याग विद्या सिद्धि में प्रतिबन्धक है। अन्यत्र कहा है कि-**'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः'** पाप कर्म के क्षय होने से मनुष्य को ज्ञान उत्पन्न होता है। तथा **'नित्य नैमित्तिकैरेव कुर्वाणोदुरितक्षयम्'** नित्य नैमित्तिक कर्म द्वारा ही दुरित कर्म का क्षय करता हुआ। इत्यादि वाक्य से सिद्ध होता है कि मुमुक्षु को यावज्जीवन नित्य नैमित्तिक कर्म का अनुष्ठान करना ही चाहिये। विद्या के अङ्गभूत कर्म का त्याग तो विद्या सिद्धि में प्रतिबन्धक हो जायगा। जो जिसका कारण उसका अभाव तादृश कार्य में प्रतिबन्धक हो जाता है ऐसा घटादि कारणता स्थल में देखने में आता है। मैं ईश्वर पराधीन हूँ, इसप्रकार से परतन्त्रता ज्ञानवान् परमेश्वर की आज्ञा का पालक तुम में यथोक्त प्रकार से यावज्जीवन कर्म का अनुष्ठान करना ही युक्त है। इससे अर्थात् फलाभिसन्धिरहित कर्मानुष्ठान से अन्यथा अर्थात् प्रकारान्तर नहीं है। भगवान् की आज्ञा का पालन करना ही भगवान् की प्रसन्नता में कारण है जो कि भगवदधीन अपने को

मानते हैं। इससे अतिरिक्त दूसरा कोई कारण नहीं है। अतः भगवान् की आज्ञारूप जो कर्म है उसका अनुष्ठान यावज्जीवन अवश्य कर्तव्य है।

नहीं कहें कि कर्म का अनुष्ठान करेंगे तो कर्म फल का बन्धन होगा इस शंका का निराकरण करने के लिये कहते हैं-**'न कर्म लिप्यते नरे'** इति। उक्त जो ब्रह्मज्ञान तद्विरुद्ध कर्मफल में जो रमण न करे उसे नर कहते हैं, एतादृश तुम नर में विद्या के अङ्गरूप से क्रियमाण जो निष्काम कर्म वह लिप्त नहीं होता है। अर्थात् निष्काम कर्म बन्धन का जनक नहीं होता है। राग से उपहित युक्त जो यागादिक वही बन्धन का कारण होता है। परमात्मा से भिन्न पदार्थ मात्र से विरक्त जो व्यक्ति है उसके हेतु स्वरूपतः कर्म-यागादिक कर्म बन्धन का जनक नहीं होता है ॥२॥

विद्यायामविलम्बेन प्रवृत्तिसाधनाय अविदुषामनर्थ मुपदिशति-

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ।३।

निविड अन्धकार से आच्छादित एक असुर्या नाम का लोक है। उस लोक को मरने के वाद वे लोग प्राप्त करते हैं जो आत्मस्वरूप को नहीं जानते हैं अर्थात् आत्मघाती हैं ॥३॥

असुराणां तमःस्वभावानां जीवानामिमे असुर्याः आसुरप्रकृतिकजीवा भाव्याः रौरवादिसंज्ञाः लोकाः भोगभूमयः प्रसिद्धाः शास्त्रेषु नामेत्यस्य प्रसिद्धिपदार्थत्वात्। कीदृशास्ते इत्यपेक्षायामाह-

(अन्धेन तमसाऽऽवृता इति) अन्धेन अतिगाढेन तमसा अन्धकारेण आवृताः आविष्टाः, यत्र आलोकः कदापि न प्रसज्यते तादृशा इत्यर्थः तान् लोकान् रौरवादिसञ्ज्ञितान् निरयान् ते प्रेत्य मृत्वा अभिगच्छन्ति अभितः प्राप्नुवन्ति ते के इत्याकांक्षायामाह-

(ये के चात्महनो जना इति) आत्मानं घ्नन्ति ब्रह्मज्ञानवैधुर्येण हिंसन्ति संसारमहागर्ते पातयन्ति ते आत्महनः असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्' इतिश्रुत्या ब्रह्मज्ञानरहितानामेव आत्मघातित्वप्रतीतेः एवंभूताः ये के च ब्राह्मणाः क्षत्रियादयो वा देव योनयो वा जनाः जनिमन्तःसन्ति ते सर्वे निरयपातिनो भवन्ति, अतः कर्मव्यतिरिक्तेषु काम्यनिषिद्धकर्मसु वै मुख्यमासाद्य ब्रह्मज्ञानाय शीघ्रं प्रयतनीयमितिभावः।३।

परमात्म विद्या में अविलम्ब अर्थात् झटिति प्रवृति के लिये अविद्वान् अनात्मज्ञ को किस तरह के अनर्थ की प्राप्ति होती है इस बात का उपदेश देते हुए कहते हैं- **'असुर्यानामेत्यादि'** असुर तमः स्वभावक जो जीव उन

जीवों का जो लोक उसे असुर्या कहते हैं। एतादृश लोक आसुर प्रकृतिक जीव जिसमें अभिसम्पन्न होते हैं जो रौरव कुम्भीपाक प्रभृति शब्द से बोधित लोक है। अर्थात् असुर जीवों का भोगस्थान है जो शास्त्र में प्रसिद्ध हैं। असुर्या के आगे जो नाम शब्द है वह प्रसिद्धार्थक है। शास्त्र में ये अतिप्रसिद्ध हैं। वे लोक किस प्रकारक हैं इस अपेक्षा में कहते हैं-'**अन्धनेत्यादि**' अन्ध अर्थात् अत्यन्त गाढ जो तमस अन्धकार तादृश अन्धकार से वे रौरवादि लोक आच्छादित हैं। जिसमें आलोक कभी भी नहीं होता है एतादृश रौरवादि नामक निरय नरक को वे लोग प्राप्त करते हैं। मरने के वाद इन नरकों में उनका पतन होता है। वे कौन हैं जिनका मरणोत्तरकाल में तादृश नरक में पतन होता है इस अपेक्षा में कहते हैं-'**ये के चात्महनो जनाः**' इति। जो आत्मा का हनन करते हैं अर्थात् ब्रह्मज्ञान के अभाव के कारण से आत्मा को हिंसित करते हैं संसाररूप जो महान् गर्त है उसमें अपनी आत्मा को गिराते हैं वे आत्महन कहलाते हैं। वह असत् होता है जो ब्रह्म को असत् समझता है, इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्मज्ञानरहित व्यक्ति को ही आत्मघाती बतलाया गया है। स्वभूत जो कोई भी ये ब्राह्मण क्षत्रियादिक देव योनी विशेष के जनिमान् हैं वे सबके सब नरक में पतित होते

हैं। अतः नित्य नैमित्तिक कर्म भिन्न उपास्य निषिद्ध कर्मों से विमुख होकर ब्रह्मज्ञान के लिये निष्कामभाव युक्त होकर श्रीरामसेवारूप कर्म में शीघ्र ही प्रयत्न करना चाहिये, ऐसा मन्त्र का भाव है ॥३॥

सकलजगद्व्यापितया प्रकृतस्य ईश्वरस्य विरोधाभासान्वितविचित्रानेकशक्तिमत्त्वमुपदिशति शिष्यस्य ब्रह्मज्ञानाभिमुख्याय-

अनेजदेकं मनसो जवीयो
नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठ-
त्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥

जो आत्म तत्त्व स्वतः कल्पनादि क्रिया से रहित है। जो मन से भी अधिक वेगवान् हैं इस आत्म तत्त्व को देवता इन्द्रियवर्ग नहीं प्राप्त कर सकते हैं क्योंकि आकाशवत् व्यापक होने से सर्वत्र पहले से ही प्राप्त हैं। दौडने वाले अन्य को वह अतिक्रमण करके रहता है। उसी आत्म तत्त्व की सत्ता में मातरिश्वा वायु सबको धारण करता है ॥४॥

न एजते कम्पते इति अनेजत् अकम्पमानम् सर्वत्र व्यापकत्वेन गतत्वाद् गन्तव्यो देश एव नास्तीति गत्यभावादेव न कम्पोऽपि तत्र तथापि मनसो जवीयः जवो वेगः अतिशयेन यत्रास्ति स जवीयः वेगवत्तरम् मनो हि वेगवतां प्रथमं प्रसिद्धम् ततोऽपि ब्रह्म जवीयः

मनोवेगस्याप्यविषयत्वात् । अनेजत् जवीयः इति विरोधोऽत्र भासते, विभुत्वेन वस्तुतो नैजते इति तत्परिहारः जवीयत्वं तूपचारात् एव ब्रह्मणीति बोध्यम् । एकम् स्वसमाभ्यधिकाद्वितीयरहितम् एव ब्रह्मपूर्वं प्रागेव सर्वान् देवान् अर्षत् प्राप्तवत् तथापि देवाः बहुत्वसंख्यावन्तोऽपि एकत्वसंख्यावत् एनत् ब्रह्म नाप्नुवन् न प्राप्तवंतः एतावत्कालपर्यन्तमित्यर्थः । यो यं प्राप्नोति स तमपि प्राप्नोतीति लोकप्रसिद्धनियमः प्राप्तेः परस्परसंयोगरूपत्वात् इह तु प्राप्तमपि ब्रह्मदेवाः न प्राप्नुवन्निति विरोधः प्रतीयते कर्मसंज्ञिताऽविद्यासंकुचितज्ञाना देवाः अन्तर्यामितया प्राप्तमपि न प्राप्नुवन्तीति परिहारोऽत्र बोध्यः । यथा हिरण्यनिधिं क्षेत्रे निहितमपि क्षेत्रज्ञानविधुराः उपर्युपरि सञ्चरन्तोऽपि न जानन्ति एवं गुरूपदेशमन्तरा स्वबुद्धिमात्रेण स्वान्तर्गतमपि ब्रह्म न जानन्ति इतिभावः । तद्ब्रह्म तिष्ठत् सर्वत्र वर्तमानमेव 'यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् य आत्मनि-तिष्ठन्' इत्यादि श्रुतेः । धावतः शीघ्रांगतिं कुर्वतः पवनगरुडादीनपि अत्येति अतिक्राम्यति । यतो यतो गरुडादयो धावन्ति तत्परस्तादपि ब्रह्मवर्त्तत एवेतिभावः । अत्रापि तिष्ठतः धावदतिक्रमणं विरुद्धमिवाभाति ब्रह्मणः व्यापित्वे न धावदतिक्रमणं विरुध्यते इति परिहर्तव्यम् । तस्मिन्

सर्वव्यापिनि ब्रह्म व्यवस्थित इतिशेषः, मातरिश्वा-वायुः अपः इदमुपलक्षणम् तेन महीमहीधरपयोधरग्रह नक्षत्रादिकं सर्वंदधाति विभर्ति, ब्रह्मणि स्थितो वायुः ब्रह्माहितवीर्यतया सर्वं धर्तुं शक्नोति न स्ववीर्यमात्रे-णेत्यभिप्रायः 'एषः सेतुविधरण एषां लोकानामसंभेदाय' (बृ. ४।४।२२) इत्यादिश्रुतेः ।

'द्यौ सचन्द्रार्कनक्षत्रा खं दिशो भूर्महोदधिः ।
वासुदेवस्य वीर्येण विधृतानि महात्मनः ॥'

इत्यादिस्मृतेश्च, ब्रह्मण एव सर्वविधारकत्वाव गमात् । अनेन विचित्रशक्तियोगः स्फुटमुक्तो भवति ।

अथवा ईशावास्यमिति मन्त्रेण व्यापकतया वर्णितस्य परमात्मनः व्याप्यतया वर्णितस्य चिदचिद् रूपस्य जगतश्च परस्परविलक्षणतामनेन मन्त्रेण शिष्यम्प्रति उपदिशति । व्याप्यभूतं चिदात्मकं जगत् एजत् कम्पमानं ज्ञानसंकोचविकासरूपस्वभावच्युतिमत् अचिद् रूपं जगत् तु स्वरूपान्यथाभावरूपस्वरूपच्यु तिमत् । ब्रह्म तु तादृशोभयच्युतिरहितमतः अकम्प मानम् इति द्वयोः वैलक्षण्यम् । ब्रह्म एकम् स्वसमाभ्य धिकद्वितीयरहितम् व्याप्यं तु न तथा किन्तु स्वसमा नाधिकद्वितीययुक्तम् व्याप्यं जगत् सकलमेव मनोगो चरं ब्रह्म तु व्यापकतया न मनोगोचरम् 'अवाङ्मनस

गोचरमि'तिश्रुतेः । वैलक्षण्यं मनसो जवीय इत्यनेन दर्शितम् । व्यापकं ब्रह्म पूर्वं पूर्वकालत एवेति सर्वं वस्तु अर्षत् प्राप्नुवदस्ति । देवा इति उपलक्षणम् परिच्छिन्नं व्याप्यं जगत् एतत् ब्रह्म अधुनापि नाप्नुवत् अतः सर्वप्राप्तिमत्ता न तत्रेति विलक्षणत्वं द्योति तम्भवति । तद् व्यापकं ब्रह्म तिष्ठत् गतिनिवृत्तिमदपिष्ठा गतिनिवृत्तौ धातुः धावतः अतिशयितगतिमतः अन्यान् अत्येति अतिक्रम्य वर्तते व्यवहितविप्रकृष्टसर्वदेश वर्तित्वं ब्रह्मणि एतेन प्रतिपादितम् परिच्छिन्नं जगत् प्रगतिशीलमपि व्यवहितविप्रकृष्टसर्वदेशवर्तिनास्त्येवेति तयोर्वैलक्षण्यम् । मातरिश्वावायुः अप् प्रभृतीन् पदार्थान् यद् दधाति तत् तस्मिन् सर्वात्मके ब्रह्मण्येव । अतः सर्वधारकत्वं ब्रह्मणः आयाति व्याप्यं जगत् चिद् रूपमचिद् रूपं वा किमपि न सर्ववस्तुविधारकम् इति व्याप्यव्यापकयोरपरं वैलक्षण्यमुक्तम् ॥४॥

सम्पूर्ण जगत् में व्यापक होने से प्रकृत परमात्म तत्त्व में विरोधाभास युक्त विचित्र अनेक शक्तिमत्ता का उपदेश देते हैं शिष्य को ब्रह्मज्ञान के अभिमुख करने के लिये 'अनेजदेकम्' इत्यादि से । जो एजित कल्पित न हो उसे अनेजत् कहते हैं सर्वथा कम्पनादि क्रिया से रहित परमेश्वर हैं । व्यापक होने से सर्वत्र वह परमात्मा विद्यमान हैं

इसलिये उसका कोई भी गन्तव्य देश नहीं है जिसके लिये गमन करे । और गति के अभाव होने से कम्पन क्रिया भी नहीं है उस परमात्म तत्त्व का । यद्यपि परमात्मा का एतादृश स्वभाव है तथापि मन से भी अधिक जवीय वेगमान् है । जव नाम है वेग का वह वेग जिसमें अतिशयित रूपसे उसे जवीय कहते हैं वेगवत्तर है । वेगवान् वस्तुओं में सर्वप्रथम मन है ऐसा प्रसिद्ध है परन्तु यह तो मन से भी अधिक जवीय वेगवान् है अर्थात् यह परमात्म तत्त्व मनोवेग का भी विषय नहीं है । यहां अनेजत् और जवीय इसमें विरोधाभासित है । व्यापक होने से वस्तुतः वह कम्पित नहीं है इसप्रकार विरोध का परिहार होता है। परमात्मा में अत्यधिक वेगवत्त्व जो है वह औपचारिक है वास्तविक नहीं है ऐसा समझें ।

'एकमिति' वह परमात्मा एक है अर्थात् स्व का समान तथा स्व से अधिक द्वितीय से रहित है । वह परमात्म तत्त्व पहले ही सब देवों को प्राप्त कर लिया परन्तु देवगण बहुत्व संख्यावान् हो करके भी एकत्व संख्यावान् इस ब्रह्म को आजतक भी प्राप्त नहीं कर सके। जो जिसे प्राप्त करता है वह उसे प्राप्त होता ही है । (देवदत्त जब यज्ञदत्त को प्राप्त करता है तब यज्ञदत्त भी देवदत्त को प्राप्त करलेता है) यह लोक प्रसिद्ध नियम है

क्योंकि परस्पर संयोगरूप ही तो प्राप्ति है। प्रकृत में तो प्राप्त भी जो ब्रह्म हैं उन्हें देवता लोग प्राप्त नहीं कर सकते हैं तो यह विरोध यहां प्रतीत होता है किन्तु कर्म है अपर नाम जिसका ऐसी जो अविद्या तादृश अविद्या से संकुचित ज्ञान वाले देवों से अन्तर्यामितया प्राप्त भी ब्रह्म प्राप्त नहीं होते हैं यह इसका परिहार है। अर्थात् जिस तरह क्षेत्र में सुवर्ण का निधि पृथिवी में गडा भी है किन्तु क्षेत्रज्ञान रहित उसके ऊपर से आवागमन करता हुआ भी उस निधि को नहीं जान सकता है उसीप्रकार से गुरु के उपदेश के बिना अपनी बुद्धिमात्र से अपने अन्तर में अवस्थित भी ब्रह्म को वे देवलोग नहीं जानते हैं, यह अभिप्राय है।

वह ब्रह्म **'तिष्ठत्'** सर्वत्र विद्यमान भी है। जो परमात्मा सर्वत्र विद्यमान हैं। जो परमात्मा आत्मा जीव में रहता हुआ जींव को नियन्त्रित करता है, जिसका शरीर है जिसे जीव नहीं जानता है। इत्यादि श्रुति से सिद्ध होता है। वह परमात्मा दौडता हुआ अतिशीघ्र गति को करता हुआ पवन वायु तथा गरुड प्रभृति को भी अतिक्रमण कर जाता है। जिधर-जिधर गरुडादिक दौडते हैं उसके आगे भी ब्रह्म विद्यमान ही रहते हैं। यहां भी स्थिति के विरुद्ध है धावन तथा अतिक्रमण भी विरुद्ध है किन्तु ब्रह्म के

सर्वत्र व्यापक होने से धावन अतिक्रमण विरुद्ध नहीं होता है ऐसा उत्तर है। उस व्यापक ब्रह्म को व्यवस्थित रहने से मातरिश्वा वायु अप् से उपलक्षित पृथिवी पर्वत पयोधर ग्रहनक्षत्रादि सभी को धारण करता है। अर्थात् ब्रह्म में विद्यमान वायु ब्रह्म प्रदत्त बल से सब पदार्थ को धारण करने में समर्थ वायु होता है नतु स्वकीय वीर्य से पदार्थों को धारण करने में समर्थ है। 'यही परमात्मा सेतु है विधारक है' इत्यादि श्रुत्यनन्तर में भी कहा है। स्मृति भी कहती है-'चन्द्रमा सूर्य ग्रह नक्षत्र से युक्त द्युलोक तथा आकाश दिशाएँ पृथिवी समुद्र ये सब पदार्थ वायुदेव के प्रभाव से विधारित हैं' इत्यादि श्रुति स्मृति से सिद्ध होता है कि वायु का कारण ब्रह्म से ही इन सब का विधारण होता है। इस कथन से विचित्र शक्ति युक्त परब्रह्म श्रीरामजी हैं यह अभिव्यक्त होता है।

अथवा **'ईशावास्यम्'** इस मन्त्र से व्यापक रूपसे वर्णित जो परमपुरुष परमात्मा सर्वेश्वर श्रीरामजी हैं तथा व्याप्य रूपसे वर्णित जो चित् अचित् रूप यह जगत है इन दोनों व्याप्य व्यापक जगत् तथा परमेश्वर में परस्पर वैलक्षण्य का प्रतिपादन शिष्य के प्रति इस चतुर्थ मन्त्र से किया जाता है। उसमें व्याप्यरूप जो चिदात्मक जगत जीव लक्षण है वह कम्पमान है अर्थात् ज्ञान का जो

संकोच तथा विकास लक्षण स्वभाव से च्युतिमान विनाशीप्राय है। और अचित् जडात्मक नामरूपादिमान् जगत् है वह स्वरूप का जो अन्यथाभाव अर्थात् एकरूप को छोड करके रूपान्तर में परिणति लक्षण स्वरूप च्युतिमान है और ब्रह्म तो तादृश उभय प्रकारक च्युति विनाश रहित है अर्थात् परमात्मा तो न स्वरूप से विनाशी है नवा गुण के वृद्धिह्रास लक्षण विनाश से भी विनाशी है। अतः जडचेतन जगत् कम्पमान है और परमात्मा तो सर्व प्रकार से अकम्पमान है। यही भेद जगत् तथा परमेश्वर में है।

वह ब्रह्म परमपुरुष परमात्मा श्रीराम एक है अर्थात् स्व के समान अथवा स्व से अधिक सजातीय द्वितीय रहित है। **'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च विद्यते'** एवं **'एक मेवाद्वितीयम्'** इत्यादि श्रुत्यन्तर भी कहते हैं। और व्याप्य जो जडचेतन जगत् है वह सब मन का ग्राह्य है। और व्यापक जो परमात्मा वह वाङ्मनसातीत है क्योंकि 'अवाङ्मनोगोचर है' मन के साथ वाणी जहां से निवृत्त हो जाती है। इसप्रकार श्रुत्यन्तर में भी प्रतिपादन किया है। व्याप्य व्यापक में विलक्षणता-**मनसो जवीयः** यहां बतला दिया है। व्यापक जो यह ब्रह्म परमात्मा है वह पूर्वकालिक है पूर्वकाल से ही आ रहा है। सब वस्तु को

प्राप्त किया हुआ है। 'देवाः' यह उपलक्षण है। परिच्छिन्न जो यह जगत् वह आजतक भी ब्रह्म को प्राप्त नहीं किया। अतः इनमें सर्वप्राप्तिमत्त्व नहीं है। सर्वप्राप्ति सर्वाप्राप्ति लक्षण विलक्षणत्व व्याप्य व्यापक में है। वह ब्रह्म गति निवृत्तिमान होता हुआ भी। अतिष्ठत यह रूप ष्ठागति निवृत्तौ धातु का है। अतिवेग दौडने वाले को भी अतिक्रमण करके वर्तता है। इससे ब्रह्म में व्यवहित विप्रकृष्ट सर्वदेश वृत्तित्व ब्रह्म में प्रतिपादित होता है। परिच्छिन्न जगत् यद्यपि प्रगतिशील है भी तथापि परिच्छिन्न में व्यवहित विप्रकृष्ट सर्वदेश वृत्तिता नहीं है। यह भी दोनों में विलक्षणता है। **'मातरिश्वा'** वायु अप् प्रभृति सकल पदार्थ को धारण करता है वह भी सर्वात्मक ब्रह्म में ही। अतः सर्ववस्तु की धारकता ब्रह्म में ही होती है। चिदचित् लक्षण जो व्याप्य जगत् है वह कोई भी सर्वविधारक नहीं है। यह भी एक व्याप्य व्यापक में वैलक्षण्य है ॥४॥

पूर्वमन्त्रोपदिष्टमेव विचित्रशक्तिमत्वं व्यापि-व्याप्ययोर्वैलक्षण्यञ्च प्रकारान्तरेण अज्ञानसंशयविपर्ययनिरासाय पुनरुपदिशति-

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य वाह्यतः ॥५॥

वह सर्वव्यापक परमात्मा चलता है। वह परमात्मा नहीं भी चलता है। वह परमात्मा अज्ञानियों के लिये अतिदूर में है। और वह भक्तों के लिये अतिसमीप में भी है। वह परमात्मा अन्तर्यामी रूपसे सबके अभ्यन्तर में रहने वाला है और वह परमात्मा व्यापक होने से सबके बाहर में भी रहनेवाला है ॥५॥

तत् प्रकृतं सर्वव्याप्तं ब्रह्म एजति कम्पते चलतीव, चलनफलस्य देशान्तरप्राप्तेः तत्र सत्वात् । वस्तुतः तद् ब्रह्म नैजति न चलति विभुनि तस्मिन् क्रियायोगासम्भवात् तद् ब्रह्म दूरे विप्रकृष्टदेशे वर्तते तदु तदेव-ब्रह्म अन्तिके-सन्निकृष्टदेशे च वर्तते विभुत्वेन सर्वदेशवर्तित्वस्वभावत्वात् । यद्वा आसुरप्रकृतिकजीवापेक्षया दूरे तद् ब्रह्म दैवप्रकृतिकजीवापेक्षया तु अन्तिके एव वर्तते । एवं वैलक्षण्यद्वयं पूर्वार्धेन प्रदर्श्य तृतीयं वैलक्षण्यं परार्धेन दर्शयति तद् सर्वव्यापकं ब्रह्म अस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणगम्यस्य सर्वस्य वस्तुनः अन्तः अभ्यन्तरे वर्तते तदैव च अस्य सर्वस्य बाह्यतः बहिरपि वर्तते 'अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः' इति तैत्तिरीयश्रुतेरपि अयमर्थः सिद्धयति । नहि युगपदेव किमपि कस्यचिदन्तर्बहिश्च भवति, ब्रह्म तु तथास्ति सर्वेषामिति विस्मयावहमिदं वैलक्षण्यमिति ध्येयम् ॥५॥

इससे पूर्व मन्त्र में जो परमात्मा श्रीरामजी का

विचित्र शक्तिमत्व का उपदेश किया गया है उसी वैलक्षण्य को जो कि व्याप्याव्यापक में रहनेवाला है उसका प्रकारान्तर से पुनः उपदेश करते हैं अज्ञान संशय विपर्यय का निराकरण करने के लिये 'तदेजतीत्यादि' से वह पूर्व प्रक्रान्त सर्वव्यापक ब्रह्म परमात्मा मालूम पडता है कि चलता है। चलन क्रिया का जो फल है देशान्तर की प्राप्ति वह उसमें है। वस्तुतः वह ब्रह्म परमात्मा नहीं चलता है क्योंकि व्यापक उस परमात्मा में चलनादि क्रिया का सम्बन्ध असम्भवित है। वह ब्रह्म परमात्मा दूर अर्थात् विप्रकृष्ट देश में है। तथा वही परमात्मा अन्तिक अतिसमीप में भी है क्योंकि व्यापक होने से सर्वदेश में रहने का स्वभाव है। अथवा आसुर प्रकृतिक जो जीव है तदपेक्षया परमात्मा अति दूर में है और दैविक प्रकृतिक जो जीव है तदपेक्षया अत्यन्त समीप में है।

इसप्रकार से वैलक्षण्यद्वय को पूर्वार्ध से बतलाकरके तृतीय विलक्षणता को मन्त्र के उत्तरभाग से बतलाते हैं। वह सर्वव्यापक जो ब्रह्म परमात्मा श्रीरामजी हैं वह यह जो प्रत्यक्षादि प्रमाण गम्य सब पदार्थ है उसके अभ्यन्तर में भी हैं। तथा सब पदार्थ के बाहर भी हैं। 'सब पदार्थ को भगवान् श्रीनारायण अभ्यन्तर तथा बाहर से व्याप्त करके स्थित हैं' इसप्रकार तैत्तिरीय श्रुति में भी कहा है।

यहां कहने का अभिप्राय यह है कि एक काल में कोई भी पदार्थ किसी भी पदार्थ के अभ्यन्तर तथा बाहर में नहीं रहता है। किन्तु ब्रह्म तो सब पदार्थ के बाहर अन्दर में एक काल में रहते हैं तो यह वैलक्षण्य अत्यन्त आश्चर्य जनक है ॥५॥

पूर्वमन्त्रोक्तं सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वं योऽनुसन्धत्ते स क्वचिदपि निन्दां न करोतीति ऐहिकं फलमस्याह-

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥६॥

जो कोई उपासक सभी भूत प्राणियों को आत्मा में अर्थात् परमपुरुष परमात्मा श्रीरामजी में देखता है। तथा सबभूत प्राणियों में आत्मा परमात्मा कोही अवस्थित देखता है वह व्यक्ति किसी के साथ घृणा नहीं करता है एवं किसी की निन्दा भी नहीं करता है ॥६॥

यः उपासकः सर्वाणि भूतानि आब्रह्मस्तम्ब-पर्यन्तानि स्वतन्त्रतया प्रतीयमानानि आत्मनि पर मात्मनि एव एकस्मिन् सूत्रे मणिगणानिव अनुस्यूतानि अनुपश्यति अनुसन्धत्ते किञ्च तेषु सर्वभूतेषु आत्मानं परमात्मानं मणिगणेषु सूत्रमिवानुप्रविष्टम् अनुपश्यति स एवं विधानुसन्धानकर्ता ततः सप्तम्यर्थे तस् विधानात् तेषु आब्रह्मास्तम्बपर्यन्तेषु भूतेषु ब्रह्मात्मकतया अवगतेषु ब्रह्मणः शरीरभूतेषु न विजुगुप्सते न निन्दां

कुरुते स्वात्मविभूतित्वाऽवगमादितिभावः ॥६॥

पूर्वमन्त्र में कथित जो सर्व वस्तुओं में ब्रह्मात्मकता का दर्शन तादृश ब्रह्मरूपता का जो उपासक अनुसन्धान करता है वह किसी की निन्दा नहीं करता है नवा किसी के साथ घृणा करता है एतादृश लौकिक फल एकात्मता को बतलाने के लिये कहते हैं-**'यस्तु सर्वाणीत्यादि'** से जो कोई उपासक पुरुष आ ब्रह्मस्तम्ब पर्यन्त सब प्राणी को जो कि स्वतन्त्र रूपसे प्रतीयमान ज्ञायमान हो रहे हैं उन सब को आत्मा अर्थात् परमात्मा श्रीरामजी में ही अवस्थित देखता है। जिस तरह एक सूत्र में अनुस्यूत मणिगण के समान देखता है अनुसन्धान करता है। तथा मनुष्य देव नारक तिर्यगादि भूतों में आत्मा परमात्मा को मणि निकर में सूत्र के समान सर्वान्तर्यामी रूपसे अनु प्रविष्ट देखता है अर्थात् तादृश रूपसे अनुसन्धान करनेवाला व्यक्ति। ततो न यहां सप्तमी के अर्थ में तसिल् प्रत्यय है। उन आ ब्रह्मस्तम्ब पर्यन्त भूतों में जो कि पर मात्म रूपसे अवगत है तथा जो ब्रह्म परमात्मा का शरीर अवयव रूप है उनकी निन्दा नहीं करता है क्योंकि पर मात्मा की विभूति का यथार्थ रूपसे ज्ञान हो जाने से ।६।

उक्तमेव सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वं सामानाधिकरण्येन ब्रुवाणः तादृशोपासनस्य मोहनिवर्तकत्वपूर्वकं सद्यः

शोकनिवर्तकत्वरूपं फलं प्रदर्शयति-

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाऽभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥

जिस समय में परमात्मा के स्वतन्त्र विषयक ज्ञानवान् पुरुष को प्रत्येक प्राणी परमात्मा स्वरूपात्मक से देखने में आता है। उस समय में इस एकत्व दर्शी पुरुष को कहां शोक तथा मोह रह जाता है। यानी उसे शोक मोह की निवृत्ति हो जाती है ॥७॥

यस्मिन्सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वानुसमये प्रणिधानकाले इति यावत् सर्वाणि भूतानि आत्मैव ब्रह्मैव अभूत् तस्मिन् समये सर्वभूतशरीरकतया ब्रह्मणः प्रतीतत्वात् कस्यैवं प्रतीतिरित्याशंकायामाह (विजानतः) विविच्य जानत ब्रह्म स्वतन्त्रम् अन्यत्सर्वं परतन्त्रमिति विवेकेन ब्रह्म जानतः इत्यर्थः, तस्यैव ब्रह्मणि शरीरकत्वप्रतीति रितिभावः । ननु स्वतन्त्रपरतन्त्रवस्तुभेदज्ञाने कथमेवं प्रतीतिः घटते इत्यत्र आह (एकत्वमनुपश्यतः) एकत्वं जातिव्यक्त्योरिव जगद्ब्रह्मणोः विभागानर्हसम्बन्ध-विशेषं तदेकधार्यत्वादिरूपम् अनुपश्यतः विशदतया अनुसन्धानस्येत्यर्थः, 'रामसुग्रीवयोरैक्यं देव्यर्थे सम जायत' इत्यादौ श्रीरामसुग्रीवयोरत्यन्तभेदेपि एकत्वस्य अविभाज्यसम्बन्धरूपस्यैव दर्शनात् इहापि तादृशै कत्वस्य ग्रहीतुं योग्यत्वात् तादृशस्य च सम्बन्धस्य

'यस्यात्माशरीरम् यस्य पृथिवीशरीरमि'त्यादिश्रुतिसिद्धत्वात् । तत्र एवमेकत्वानुसन्धानकाले को मोहः शरीरादौ आत्मत्वभ्रमलक्षणः आत्मनि स्वतन्त्रत्वभ्रम लक्षणः पुत्रादौ ममत्वग्रहलक्षणो वा मोहः अविवेकः कः न कोऽपि मोहः तदा भवतीतिभावः । तथा सर्व मेतत्परमात्मविभूतिरेवेत्येव रूपेण ज्ञाते सर्ववस्तुनि कः शोकः शरीरनाशजन्यः पुत्रादिमरणजन्यः सर्वस्वापहरणप्रभवो वा शोकः कः न कोऽपि भवतीत्यर्थः । अहं ममेत्यादिभ्रमप्रसक्त्यभावात् तन्मूलकमोहशोकादेस्तत्र नावसरो भवतीतिभावः ।

केचित् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूत् इत्यस्य आत्म व्यतिरिक्तानि सर्वाणि भूतानि न भवन्ति एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्मेतिज्ञाने ब्रह्मातिरिक्तस्य सर्पस्य मिथ्यात्वेन बाधितत्वात् रज्जौ रज्जुत्वज्ञाने पूर्वं प्रतीतस्य सर्पस्य रज्जुव्यतिरिक्तत्वाभाववत् इत्यर्थः वर्णयन्ति तन्न युक्तम् 'य आत्मनि तिष्ठन् आत्मानमन्तरो नियमयति यस्यात्मा शरीरम् यस्य पृथिवी शरीरमि' त्यादिश्रुतिसिद्धं जगद्-ब्रह्मणोः शरीरात्मभावसम्बन्धमादाय सामानाधिकरण्यप्रतिपादनसम्भवे बाधायां सामानाधिकरण्यमिति पक्षस्यानादेयत्वात् ॥७॥

पूर्व कथित जो सब पदार्थ में ब्रह्मात्मकता है तादृश

भिन्न जो साधन वह मोक्ष का साधन है इस तरह प्राचीन आचार्य कहते हैं। इसीप्रकार अविद्यया में भी पञ्चम्यर्थक ही तृतीया है अविद्या अर्थात् ब्रह्मज्ञानरहित केवल कर्म की अपेक्षा से भिन्न ही मोक्ष का साधन है ऐसा उपनिषद् का कथन है। यहां उपनिषत् पद का अध्याहार आहुः क्रिया के कर्तारूप में करना चाहिये। **'इति'** केवल कर्म तथा केवल ज्ञान से भिन्न मोक्ष का साधन है एतादृश धीर बुद्धिमान् परमात्म विषयक ज्ञानवान् आचार्यों का वचन हमलोग सुने हैं। यहां **'इति शुश्रुम'** इस स्थल में वचन पद का अध्याहार करना चाहिये। वे धीर विद्वान् कौन हैं ? इस जिज्ञासा में श्रुति कहती है **'येनस्तद्विचचक्षिरे'** इति। जो पूर्व कालिक आचार्य लोगों ने शरण में गये हुए हमलोगों के लिये उस मोक्षसाधन को विविक्त पृथक् पृथक् रूपसे उपदेश किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह विषय परम्परा सिद्ध है। यहां आचार्य वचन का जो श्रवण वह यद्यपि प्रत्यक्ष सिद्ध है तथापि भावी परोक्ष अर्थ में लिट् लकार का विधान किया गया है क्योंकि ब्रह्मज्ञान के अतिगहन होने से आचार्य के वचन का श्रवण होने से आचार्य के वचन का श्रवण होने पर भी पूर्ण रूपसे हमलोग भी नहीं जान सके इस तात्पर्य से

लिट् लकार का प्रयोग है 'सोता हुआ मैंने विलाप किया' इस लौकिक वाक्य के समान कोई विरोध नहीं है ॥१०॥

किं तत् अन्यत् मोक्षसाधनमिति शिष्याकांक्षां परिजिहीर्षुराचार्यः विवृणोति-

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं स ह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ११

जो पुरुष विद्या तथा अविद्या का साथ-साथ अनुष्ठान करता है वह अविद्या कर्मानुष्ठान से मृत्यु को अतिक्रमण करके विद्या ज्ञान से अमृत पद वाच्य श्रीराम सायुज्य को प्राप्त करता है ॥११॥

यः यथावद् गुरूपदेशलब्धविद्यः विद्यां ब्रह्मोपास नात्मिकाविद्याञ्च ब्रह्मोपासनाङ्गभूतां वर्णाश्रमोचित नित्यनैमित्तिककर्मरूपां सह अङ्गाङ्गिभावेन अनुष्ठान-योग्यमुभयं ज्ञानकर्मरूपं तत् मोक्षसाधनं वेद जानाति तादृशमोक्षसाधनज्ञाता अविद्यया विद्याङ्गभूतेन कर्मणा मृत्युं विद्याविरोधिपुण्यपापरूपंप्राचीनं तीर्त्वा अतिक्रम्य विद्यया परमात्मोपासनेन अमृतं मोक्षम् अश्नुते लभते, अत्र ब्रह्मोपासनारूपस्य उपायस्य विरोधिमृत्युशब्दि तम् यत् पुण्यपापरूपं कर्म ततः तरणं तीर्त्वा इत्यनेन प्रतिपाद्यते । उपेयभूतब्रह्मणः प्राप्तौ विरोधिरूपेभ्यः संचितपुण्यपापमात्मसर्वकर्मभ्यो मोक्षम् अमृतमश्नुते

इत्यनेन प्रतिपाद्यते इतिविवेकोऽनुसन्धेयः । एवं द्विती यमन्त्रेकर्मणां परमभक्तिसाधनत्वमुक्तम् । अस्मिन्मन्त्रे तु वर्णाश्रमोचितनित्यनैमित्तिककर्मणां पापनिकन्दनद्वारा भक्तिवृद्धिहेतुत्वमुक्तमित्यपि ध्येयम् ॥११॥

मोक्ष का साधन वह अन्य वस्तु क्या है एतादृश शिष्य की जिज्ञासा को निवृत्त करने के लिये आचार्य कहते हैं-'**विद्याञ्च**' इत्यादि । जो शिष्य यथावत् अध्ययन नियम के अनुसार गुरु से विद्या को लाभ कर चुका है वह शिष्य विद्या अर्थात् ब्रह्मोपासना को तथा अविद्या अर्थात् ब्रह्मोपासना के अङ्गभूत वर्णाश्रमोचित नित्य अङ्गीभाव से अनुष्ठान के योग्य जो उभय ज्ञान तथा कर्म यही मोक्ष का साधन है । ऐसा जो अधिकारी जानता है । एतादृश उभयानुष्ठायी जो पुरुष जो कि तादृश मोक्षसाधन का ज्ञाता है वह अविद्या से अर्थात् विद्या का अङ्गभूत कर्मानुष्ठान से मृत्यु को अर्थात् ब्रह्मविद्या के विरोधी पूर्व कालिक पुण्य पापरूप मृत्यु को अतिक्रमण करके विद्या से अर्थात् परमपुरुष परमात्मा की उपासना से अमृत मोक्ष पद को प्राप्त करता है । यहां मोक्ष प्राप्ति में कारणीभूत ब्रह्मोपासना हैं तादृश उपाय कारण का विरोधी मृत्यु शब्द से प्रतिपादित जो पुण्य पाप रूप कर्म है उसका तरण यह अर्थ तीर्त्वा इस पद से प्रतिपादित होता है । उपेय कार्य

रूप जो ब्रह्म प्राप्ति तादृश प्राप्ति में विरोधीरूप जो संचित पुण्य पाप लक्षण सर्वकर्म तादृश से मोक्षरूप अमृत को प्राप्त करता है। यह बात-'**अमृतमश्नुते**' इस मन्त्रावयव से प्रतिपादित होता है। इसप्रकार भेद जानना चाहिये। इसीतरह द्वितीयमन्त्र में कर्म भक्ति का अत्युत्कृष्ट कारण है इस बात का कथन किया गया है। और इस मन्त्र में वर्णाश्रमोचित जो नित्य नैमित्तिक कर्म है उसको पाप निकन्दन के द्वारा भक्ति की वृद्धि में कारणत्व कहा गया है। यह भी जानना चाहिये ॥११॥

परमात्मोपासनरूपा विद्या समाधिपर्याया नित्य नैमित्तिककर्माणि परित्यज्य न निष्पादयितुं शक्या इति प्रतिपाद्य योगाङ्गभूतां हिंसास्तेयानिवृत्तिं विनापि सा न सम्भवति इति प्रतिपादयितुं पूर्वं केवलां निषिद्ध निवृत्तिं केवलां समाधिरूपां विद्यां च निन्दति-

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः ।१२।

जो पुरुष असम्भूतिमात्र-कर्ममात्र की उपासना करता है वह गाढान्ध को प्राप्त करता है। और जो केवल समाधि लक्षणा विद्या की उपासना करता है वह तो पूर्वापेक्षया भी अधिकतर दुःखद स्थान को प्राप्त करता है ॥१२॥

सम्भूतिशब्दस्य ब्रह्मप्राप्तिरूपानुभूतिः, समाधि

रूपानुभूतिश्चेति अर्थद्वयम् । तत्र प्रथमा 'ब्रह्मलोकम भिसम्भवामि' (छा. ०८।१३।१) इत्यादिषु श्रुतिषु सम्भूतिशब्देन 'सम्भूत्याऽमृतमश्नुते (ई. १४.) इत्यत्र तु अमृतशब्देन प्रोक्ता, द्वितीया समाधिरूपा वि द्याऽपरपर्याया अत्र मन्त्रे सम्भूतिशब्देनोच्यते । असम्भू तिशब्देन तु हिंसास्तेयादिनिवृत्तिरुच्यते, तेषां समाधिवि रोधित्वेन तद्वर्जनस्य विद्यानिष्पत्तावङ्गत्वात् । अतो ये मोक्षाभिलाषिणः असम्भूतिम् योगविरुद्धनिवृत्तिमेव उपासते हिंसादिवर्जनरूपविद्याङ्गमात्राय यतन्ते न समा धिरूपविद्यायै ते अन्धं तमः अतिगाढमज्ञानं नरकं वा प्रविशन्ति, ये तु सम्भूत्यां समाधिरूपविद्यायामेव 'उ' पदस्य एवार्थत्वात् रताः केवलं सम्भूत्यर्थमेव यतन्ते, ते तु ततो भूय इव तमः असम्भूतिमात्रनिष्ठैः प्राप्यस्त मसोऽधिकतरमिव तमः प्रविशन्ति, अत्रापि इव तमस इयत्तायाः दुर्ज्ञानत्वं द्योतयति । यद्वा सम्भूति शब्दस्य उत्पत्तिरर्थः सा च विनाशमपि उपलक्षयति, तथा च आश्रयलक्षणया उत्पादविनाशशालिकर्म सम्भूतिः, न सम्भूतिरसम्भूतिरिति व्युत्पत्त्या सम्भूति भिन्नाऽसम्भूतिः अर्थात् उत्पत्तिप्रध्वंसरहितमात्मतत्वम् । ततो ये मोक्षाभिलाषुकाः असम्भूतिम् उत्पादविनाश-विधुरमात्मतत्वं केवलमुपासते चिन्तयन्ति कर्मभ्य

उदासते ते तमः प्रविशन्ति प्राग्वदर्थः । कर्मपरित्यागेन ज्ञानमपि अलभमानाः संसारकूपारे निमज्जन्ति इतिभावः । ये तु सम्भूत्यामेव उत्पादप्रध्वंसिषु कर्मसु एव रताः ज्ञानविधुराणां कर्मणामेव मोक्षसाधनत्वं मन्यमानाः तदर्थमेव यतन्ते ते ततः ज्ञानमात्रचिन्तकप्राप्य तमोऽपेक्षयाऽधिकतरमिव तमः प्रविशन्ति विषयवासनालिङ्गितचित्ततया नरकादिकमधिकं प्राप्नुवन्ति इत्यर्थः ॥१२॥

समाधि है अपर नाम जिसका एतादृश परमात्मोपासना रूप जो विद्या है उसका सम्पादन नित्यनैमित्तिक कर्म का परित्याग करके अतिअशक्य है । इस बात का कथन करके योग के अङ्गभूत तादृश विद्या का निष्पादन हिंसास्त्येयादि की निवृत्ति के विना नहीं हो सकता है, इस बात का प्रतिपादन करने के लिये पहले केवल निषिद्ध वृत्ति की तथा केवल समाधि लक्षण विद्या की निन्दा को बतलाते हैं-**'अन्धन्तम'** इत्यादि से । यहां सम्भूति शब्द का अर्थ दो है एक तो ब्रह्म प्राप्ति रूपा अनुभूति तथा समाधिरूपा अनुभूति यह द्वितीय अर्थ है । उसमें जो है वह 'ब्रह्मलोक को प्राप्त करता हूँ' इत्यादि छान्दोग्य श्रुति में उक्त है । तथा सम्भूति शब्द से 'सम्भूति से अमृत को प्राप्त करता है' यहां अमृत शब्द से कही गई है। तथा

विद्या है अपर पर्याय जिसका तादृश समाधिरूपा द्वितीया, इस मन्त्र में सम्भूति शब्द से कही गई है। और असम्भूति शब्द से हिंसास्तेयादि निवृत्ति कही जाती है उन हिंसादिक को समाधि विरोधी होने से उनका परित्याग विद्या की सिद्धि में अङ्ग कारण है। अतः जो कोई मोक्ष की अभिलाषा वाले असम्भूति की अर्थात् योग विरोधी हिंसादि निवृत्ति मात्र की उपासना करते हैं अर्थात् हिंसादि वर्जन रूप विद्या के अङ्गमात्र के लिये प्रयत्न करते हैं किन्तु समाधिरूप विद्या के लिये प्रयत्न नहीं करते हैं। वे उपासक अन्धन्तम अतिगाढ अज्ञान में अर्थात् नरक में प्रवेश करते हैं। जो पुरुष सम्भूति समाधिरूप विद्या मात्र में रत हैं केवल सम्भूति के लिये ही प्रयत्न करते हैं। यहां 'उ' पद का अर्थ अवधारण है। वे उपासक पूर्वापेक्षया भी अधिकतम में अर्थात् असम्भूति मात्र की उपासना करने वालों से प्राप्य जो तम उससे भी अधिकतर तम में प्रविष्ट होते हैं। यहां भी 'इव' शब्द तम की इयत्ता के दुर्ज्ञानत्व का द्योतक है। यहां सम्भूति शब्द का अर्थ है उत्पत्ति वह उत्पत्ति विनाश का भी उपलक्षक है। आश्रय में लक्षणा करके उत्पाद विनाश शाली कर्म को सम्भूति कहते हैं। और सम्भूति जो न हो उसे असम्भूति कहते हैं अर्थात् उत्पाद विनाशरहित आत्म

तत्व। जो मोक्षाभिलाषी पुरुष असम्भूति को अर्थात् उत्पाद विनाशरहित केवल आत्म तत्व की उपासना करता है और कर्म से उदासीन रहता है वह अन्धन्तम को प्राप्त करता है क्योंकि कर्म का परित्याग कर देने से ज्ञान को नहीं प्राप्त करते हुए संसाररूप महासमुद्र में ही गोता लगाते रहते हैं। और जो पुरुष सम्भूति में अर्थात् उत्पाद विनाशशील कर्ममात्र में रत रहते हैं ज्ञानरहित मात्र कर्म को ही मोक्षसाधन मानने वाले केवल कर्म के लिये ही प्रयत्न करते हैं वे ज्ञानमात्रोपासक से प्राप्य जो तम तद पेक्षया अत्यधिक तम में प्रविष्ट होते हैं क्योंकि विषय वासना से युक्त वे लोग अधिक दुःखप्रद रौरवादि नरक को प्राप्त करते हैं ॥१२॥

यदि समाधिरूपासम्भूतिः योगविरोधिवर्जनरूपा असम्भूतिश्च न मोक्षसाधनं तर्हि भवतः आचार्यस्य अभिमतं मोक्षसाधनं किमिति शिष्यजिज्ञासायामाह-

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ।१३।

सम्भव समाधिरूप सम्भूति से अन्य ही मोक्षसाधन है ऐसा कहते हैं और सम्भव निषिद्ध वर्जन रूप असम्भूति से भी भिन्न ही मोक्ष का साधन है ऐसा कहते हैं। इसप्रकार धीरों का वचन सुनता हूँ, जिन्होंने हमें यह सुनाया है ॥१३॥

सम्भवात् समाधिरूपसम्भूतेः अन्यदेव मोक्षसाधन माहुः असम्भवात् निषिद्धनिवृत्तिवर्जनरूपासम्भूतेश्च अन्यदेव भिन्नमेव मोक्षसाधनमाहुः उपनिषदः इति शेषः। इतिकेवलसम्भूतिकेवलासम्भूतिभ्यां भिन्नं मोक्ष साधनमित्येवं रूपं धीराणां धीमतामाचार्याणां वचनं शुश्रुम वयं श्रुतवन्तः। केषां धीराणामित्यत्र आह ये धीराः पूर्वाचार्याः नः अस्मभ्यं तद् मोक्षसाधनं विचचक्षिरे विविच्य व्याख्यातवन्तः ॥१३॥

यदि समाधिरूपा सम्भूति और योग विरोधी का वर्जनरूपा असम्भूति मोक्ष का साधन नहीं है तब आपके आचार्य को मोक्ष साधन रूप से क्या अभिमत है एतादृश जिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं-**'अन्यदेवाहुरित्यादि'** सम्भव से अर्थात् समाधिरूप सम्भूति से भिन्न ही कोई मोक्ष का साधन है ऐसा कहते हैं। एवं असम्भव निषिद्ध निवृत्ति वर्जनरूप असम्भूति से अन्य अर्थात् भिन्न ही मोक्ष का साधन है ऐसा उपनिषदों का कथन है। **'इति'** अर्थात् केवल सम्भूति तथा केवल असम्भूति से भिन्न ही मोक्ष का साधन है। इसप्रकार धीर धीमान् आचार्यों का वचन सुनता हूँ। किस धीर का वचन सुनते हैं ? इस जिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं-**'येनस्तदित्यादि'** जो धीर पूर्वाचार्य **'नः'** हमलोगों को **'तत्'** उस मोक्षसाधन को

विवेचन करके विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किये ॥१३॥

किन्तदन्यत् मोक्षसाधनमित्याकांक्षायामाह-

सम्भूतिञ्च विनाशञ्च यस्तद्वेदोभयं स ह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते १४

सम्भूति समाधिरूप का तथा विनाश योगों का युगपदेव अनुष्ठान करता है वह उपासक विनाश से मृत्युपदवाच्य उपासना प्रतिबन्धक पाप को अतिक्रमण करके सम्भूति से उपासनात्मक ब्रह्मानुभव से अमृत को मोक्ष को प्राप्त कर जाता है ॥१४॥

सम्भूतिं समाधिरूपां ब्रह्मोपासनां विनाशम् विनाशः निवृत्तिः स च ब्रह्मोपासनाविरोधिहिंसास्तेया दिवर्जनरूपः तं विनाशं योगविरोधिवर्जनञ्च यः उपा सकः सह साहित्येन अङ्गाङ्गिभावेन उभयं वेद जानाति युगपदेव उभयं कुरुते इत्यर्थः । स उपासकः विनाशेन समाधिविरोधिवर्जनसेवनेन मृत्युं समाधिरूपोपासन-प्रतिबन्धकं पापं तीर्त्वा दूरीकृत्य ततो जातया सम्भूत्या समाधिरूपब्रह्मानुभूत्या उपासनापरपर्यायया अमृतम् ब्रह्मप्राप्तिरूपामनुभूतिं 'एतमितः प्रेत्याभिसम्भवि-ताऽस्मि' (छा. ३।१४।४) इतिश्रुतिप्रतिपादितम् सम्भू तिमिति यावत् अश्नुते मोक्षं प्राप्नोतीत्यर्थः । हिंसास्ते यादयः कामक्रोधादयश्च समाधेः विरोधिनः अतः तद्वर्जनसहकृतः समाधिः निष्पन्नरूपो भवति स एवात्र

सम्भूतिवाच्यः तत्सिद्धौ ब्रह्मप्राप्तिरूपा अनुभूतिः मोक्ष पदाभिलप्या सिध्यति । अतः विरोधिवर्जनं समाध्यो रङ्गाङ्गिभावेन सेवनमेव मोक्षसाधनमित्याचार्येण वि-विच्यात्र दर्शितम् ॥१४॥

सम्भव तथा असम्भव से भिन्न क्या मोक्ष का साधक है ? इस आकांक्षा के उत्तर में कहते हैं-**'सम्भूतिं च'** इत्यादि से । सम्भूति अर्थात् समाधिरूप जो ब्रह्मोपासना उसको । तथा विनाश निवृत्ति वह विनाश क्या है तो ब्रह्मोपासना में विरोधी जो हिंसास्तेयादि का वर्जन एतादृश विनाश को योग विरोधी के वर्जन को जो उपासक साथ-साथ अर्थात् अङ्ग अङ्गीभाव रूपसे जानता है अर्थात् दोनों का सह अनुष्ठान करता है तादृश उभयानुष्ठायी उपासक विनाश से समाधि विरोधी का वर्जनानुष्ठान से मृत्यु को समाधि लक्षणोपासना प्रतिबन्धक पाप को अतिक्रमण दूर करके उससे जायमान समाधि लक्षण ब्रह्मानुभव रूप उपासना से अमृत को अर्थात् ब्रह्मानुभव लक्षण मोक्ष को 'इस शरीर के त्यागानन्तर इस ब्रह्म को प्राप्त करनेवाला हूँ' एतादृश श्रुति प्रतिपादित मोक्ष को प्राप्त करता है । हिंसास्तेय तथा काम क्रोधादिक समाधि का विरोधी है अतः इनका परित्याग सहकृत समाधि व्यवस्थित होता है । वही यहां सम्भूति पद वाच्य है । एतादृश समाधि की

सिद्धि हो जाने से ब्रह्म प्राप्ति रूप मोक्ष अवश्यमेव प्राप्त होता है। अतः समाधि विरोधी के वर्जन तथा समाधि का अङ्ग अङ्गीभाव से सेवन उपासन ही मोक्ष का साधन है इस बात का आचार्यजी ने विवेकपूर्वक प्रतिपादन किया इस स्थान में ॥१४॥

एवं स्ववर्णाश्रमोचितनित्यनैमित्तिककर्माङ्गकम् हिंसास्तेयकामक्रोधादिरूपोपासनापरिपन्थिपरित्यागाङ्कञ्च परमोपासनमेव भक्ति-सम्भूतिशब्दवाच्यं मोक्षसाधन मित्युंपदिश्य तादृशोपासनशीलस्य मनोनैर्मल्याय भगवदनुग्रहः परमोपकारक इति भगवदनुग्रहप्राप्तये प्रार्थनामुपदिशत्याचार्यः-

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥१५॥

हिरण्मय सुवर्णमय पात्र से सत्य परमात्मा का मुख आच्छादित है। हे पूषन् आप उस आच्छादन को दूर करदें। परमात्मा श्रीरामजी का साक्षात्कार करने के लिये आच्छादन को दूर करदें ॥१५॥

सत्यस्य परमात्मनः जीवस्य च 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यत्र परमात्मनि 'सत्यं चानृतं च' (छा. १।२।३) इत्यत्र जीवे च सत्यशब्दप्रयोगदर्शनात् उभयोः सत्यशब्देन ग्रहणम् । मुखम् द्वारम् मनः 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' इत्यादिश्रुतेः मनस एव परमात्म

दर्शने परिशुद्धजीवस्वरूपदर्शने च द्वारत्वावगमात् । यद्वा मुखमिव मुखम् मुखसदृशं तच्च मन एव, अनेकेन्द्रियावष्टम्भकत्वेन द्वयोः सादृश्यप्रतीतेः । हिरणमयेन हिरण्यसदृशेन शब्दादिविषयेण, हिरण्यं हि प्रलोभकप्रसिद्धमेव तथैव विषयोऽपि शब्दादिः, प्रलोभकः प्रसिद्धः, अतः तयोः सादृश्यमुचितमेव, पात्रेण आच्छादकेन । अपिहितमाच्छादितम्, शब्दादिः विषय स्ववासनया जनानां मन आच्छादयति । आच्छादनं चात्र आत्मस्वरूपे परमात्मनि वा वृत्तिप्रतिरोधनमेव, विषयवासनाकलुषतया मनसः परमात्मविषयिणी जीवस्वरूपविषयिणी वा वृत्तिर्न जायते । अतः हे पूषन् हे आश्रितपोषक ? यद्वा हे आदित्यान्तर्यामिन् 'पूषन्' पदस्य परमात्मनः शरीरमात्रोपलक्षणात् हे सर्वान्तरात्मन्निति यावत् । तत् जीवस्य मुखसदृशं मनः अपावृणु उद्घाटय विषयवासनारूपं त्वद्वृत्तिप्रतिबन्धकमावरणं दूरीकृत्य मलसम्पर्करहितं कुरु । आवरणाऽपनयने प्रयोजनं दर्शयति, दृष्टये दृष्टिः 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यत्र प्रोक्ता उपासनारूपा त्वत्साक्षात्कारायेत्यर्थः । दृष्टेरपि प्रयोजनं वक्ति-सत्यधर्माय धर्मः श्रेयः साधनपरः सत्यश्चासौ धर्मः सत्यधर्मः सः च उपासनया प्रसन्नः परमात्मैव तस्मै सत्यधर्माय तं प्राप्तु

मित्यर्थः, 'यमेवैष वृणुते तस्यैव विवृणुते तनूंस्वाम्' इतिश्रुत्या परमात्मनः प्राप्यस्यापि प्रापकत्वावगमात्-सत्यधर्मत्वं स्पष्टमेव । अथ च जीवस्य सत्यस्य स्वाभाविको धर्मः अपहतपाप्मत्वादिरूपः सोऽपि सत्यः तस्मै तं प्राप्तुमित्यर्थः । 'परं ज्योतिरूपं सम्पद्यस्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इतिश्रुत्यनुसारात् । दृष्टेरुपासन रूपायाः परमात्मप्राप्तिः स्वस्वरूपाभिनिष्पत्तिश्चेति द्वयमपि फलमितिभावः । यद्वा सत्यो जीवः तस्य धर्मः धर्मभूतज्ञानम् तद्रूपैव दृष्टिः परमात्मदर्शनं तच्च समाधिरूपम् तादृशदृष्टिसिद्ध्यर्थं मनसः आवरणमपन-येतिभावः ॥१५॥

एवं यथोक्त प्रकार से स्ववर्णाश्रमोचित नित्यनैमित्तिक कर्म है अङ्ग जिसके तथा हिंसा स्तेय काम क्रोध रूप जो उपासना का विरोधी है उसका परित्याग है अङ्ग जिसका एतादृश परमपुरुष का जो उपासन है वही भक्ति सम्भूति शब्द का वाच्य मोक्षसाधन है इसका उपदेश देकर एतादृश परमपुरुषोपासनशील अधिकारी के मन को निर्मलता के लिये भगवान् का अनुग्रह परमोपकारक है । इसलिये भगवान् श्रीराम का जो अनुग्रह है उसकी प्राप्ति के लिये आचार्य प्रार्थना का उपदेश करते हैं–'**हिरणमयेन**' इत्यादि से । सत्य पदवाच्य जो परमात्मा तथा जीव हैं । 'ब्रह्म

सत्य ज्ञान स्वरूप और अनन्त है' यहां परमात्मा में और 'सत्यं चामृतं च' यहां जीव में सत्य शब्द का प्रयोग देखने में आता है अतः परमात्मा तथा जीव इन दोनों का सत्य शब्द से ग्रहण होता है। एतादृश सत्य शब्द वाच्य परमात्मा तथा जीव का मुख अर्थात् द्वार मन है 'मन से ही परमात्मा द्रष्टव्य है' इत्यादि श्रुति से परमात्म दर्शन में तथा विशुद्ध जीव के दर्शन में मन को ही द्वारत्व अवगत होता है। यद्वा मुख के समान मुख सोम नहीं है, अनेक इन्द्रियों का अवष्टंभक-उपकारक होने से दोनों में सादृश्य प्रतीत होता है। हिरण्य सुवर्ण तत्सदृश शब्दादि विषय से। जिस तरह सुवर्ण में प्रलोभकत्व प्रसिद्ध है उसी तरह शब्द स्पर्शरूप रसादिक जो विषय हैं उनमें भी प्रलोभकत्व अतिप्रसिद्धि है। अतः सुवर्ण तथा शब्दादिक विषयों में सादृश्य उचित ही है। सुवर्णमय पात्र से अर्थात् आच्छादक से। अपिहित है अर्थात् आच्छादित है। शब्दादिक विषय स्वकीय वासना से मनुष्यों के मन को आच्छादित करता है। यहां आच्छादन शब्द का अर्थ है कि जीव स्वरूप में अथवा परमात्मा में वृत्ति का प्रतिरोध करदें। विषय वासना से कलुषित होने के कारण परमात्म विषयक अथवा जीव स्वरूप विषयक मन की वृत्ति का प्रादुर्भूत नहीं होता। अतः हे पूषन् आश्रित

भक्तजनों के पोषण करने वाले भगवन् ! यद्वा हे आदित्य के अन्तर्यामी **'सूर्यमण्डलमध्यस्थं रामं सीता समन्वितम् । नमामि पुण्डरिकाक्षममेयं गुरुतत्परम् ॥'** इस प्रकार आगम में लिखा है अतः सूर्य के मध्य में स्थित श्रीसीतारामजी को नमन के हेतु यह तात्पर्य होता है । यहां पूषन् यह जो पद है वह परमात्मा के शरीर मात्र का अर्थात् सर्व शरीर का उपलक्षक है, अतः हे सर्व के अन्तरात्मा श्रीरामजी यह अर्थ होता है । तत् अर्थात् जीव का मुख सदृश जो मन उसको अपावृणु उद्घाटित कर दीजिये । अर्थात् परमेश्वर विषयक वृत्ति में प्रतिबन्धक जो विषय वासनारूप आवरण है उस आवरण को दूरीकृत-हटा करके मलसम्पर्क रहित बनादीजिये । मनोगत आवरण के अपनयन में क्या प्रयोजन है उसे बतलाते हैं-**'दृष्टये'** इति । दृष्टि के लिये दर्शन के लिये । यहां दृष्टि शब्द का अर्थ है-**'आत्मा वारेद्रष्टव्यः'** इस स्थल में कथित उपासनारूपा दृष्टि । तब दृष्टये का अर्थ होता है कि आपका साक्षात्कार करने के लिये । भवदीय दर्शन साक्षात्कार का क्या प्रयोजन है उसे बतलाते हैं-**'सत्य धर्माय'** इति । यहां श्रेयस मोक्ष का साधन जो धर्म तादृश धर्म का बोधक धर्मपद है-**'सत्यश्चासौ धर्मश्चेति सत्य धर्मः'** सत्य लक्षण जो धर्म, उसका नाम है सत्यधर्म ।

एतादृश धर्म उपासना से प्रसन्न परमात्मा ही हैं। उस सत्य धर्म के लिये अर्थात् तादृश सत्य धर्म् लक्षण परमात्मा श्रीरामजी की प्राप्ति के लिये। 'यह परमात्मा जिसके ऊपर कृपा करता है उसीसे वह लभ्य होता है' इस श्रुति से प्राप्य भी परमात्मा में प्रापकत्व भी अवगत होता है अतः सत्यधर्मत्व उसमें स्पष्ट है। अथवा सत्य जो जीव उसे अपहत पाप्मत्वादि स्वाभाविक रूप है वह भी तो सत्य ही है अतः तस्मै अर्थात् जीव का जो स्वाभाविकरूप उसकी प्राप्ति के लिये। क्योंकि 'परज्योतिः स्वरूप को प्राप्त करके स्वकीयरूप से अभिनिष्पन्न होता है' एतादृश श्रुत्यन्तर से भी सिद्ध होता है। दृष्टि जो उपासना उसका दो फल है एक तो परमात्म प्राप्ति तथा स्व स्वरूप की अभिनिष्पत्ति। यद्वा सत्य जो जीव उसका जो धर्म अर्थात् धर्मभूतज्ञान तद्रूप जो दृष्टि अर्थात् परमात्म दर्शन वह समाधिरूप है। एतादृश दृष्टि के सिद्ध्यर्थ मन के आवरण को हटाइये। यह इसका भाव है ॥१५॥

एवं परमात्मदृष्टिप्रतिबन्धकचित्तावरणनिराकरणाय प्रार्थनाप्रकारमुपदिश्य परमकृपालुराचार्यः भगवतः कल्याणतमरूपदर्शनप्रतिबन्धकतदीयोग्ररश्मिसंहरणायाऽदर्शनौपयिकं सौम्यरश्मिसंग्रहणाय च प्रार्थनामुपदिशति-

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्यव्यूहरश्मीन् समूह। तेजो यत्ते रूपङ्कल्याणतमन्तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोहमस्मि ॥१६॥

हे पूषन् हे एकर्षि हे यम हे सूर्य हे प्राजापत्य आप स्वकीय किरण उपसंहृत करें प्रभारूप तेज को एकीकृत करें। जो यह आपका कल्याणतमरूप है, उसे मैं देखूँ। जो यह आदित्य मण्डलस्थ पुरुष श्रीरामजी हैं वे ही मेरे भी अन्तर्यामीरूप हैं ॥१६॥

हे पूषन् आश्रितपोषणस्वभावः यद्वा सर्वशरीरकत्वेन सर्वैः शब्दैः परमात्मनः वाच्यत्वात् हे पूषन् एतच्छब्दवाच्येत्यर्थः। एकर्षे, एकः अद्वितीयः ऋषिः अतीन्द्रियार्थद्रष्टा तत्सम्बुद्धौ एकर्षे सर्वप्रकारेण सर्वस्मिन् काले सर्ववस्तुसाक्षात्कारसमर्थेत्यर्थः। यम, यमयति अन्तः प्रविश्य सर्वानिति यमः तत्सम्बुद्धौ यम सर्वान्तर्यामिन्नित्यर्थः। सूर्य, सुष्ठु ईरयति प्रेरयति स्वाश्रितानां बुद्धिं यः स सूर्यः तत्सम्बुद्धौ सूर्य स्वोपासकजनबुद्धियोगदायिन्नित्यर्थः। ददामि बुद्धियोगं तमिति हि भगवतैव गीतम्। प्राजापत्य, प्रजानां पतिः प्रजापतिः स प्रजापति एव प्राजापत्यः तत्सम्बुद्धौ प्राजापत्य स्वार्थे ष्यञ्। हे विष्णो विश्वस्वामिन्नित्यर्थः। 'प्रजापतिः चरति गर्भे अन्तः' इति श्रुत्या भगवतोऽपि प्रजापतित्वावगमात्। यद्वा प्रजापतिश्चतुर्मुखः तस्या

पत्यानि प्राजापत्याः तेषामन्तर्यामिन्नित्यर्थः । रश्मीन् स्वकीयदिव्यशरीरगतान् उग्रान् किरणान् दर्शनप्रतिबन्धकान् व्यूह उपसंहर । तेजः भवद्दीयदिव्यदर्शनोपयुक्तं प्रभारूपं तेजः समूह एकत्रीकुरु, कस्मै प्रयोजनाय उग्ररश्मीनामुपसंहरणं सौम्यतेजसः पुञ्जीकरणञ्च प्रार्थयसे इत्याकांक्षायां प्रयोजनं वदति, यत्ते ते तव निरतिशयानन्दरूपस्य ब्रह्मणः यत्कल्याणतमं निरतिशयलावण्यादिगुणोपेततया अतिशयितकल्याणं सर्वातिशायिमङ्गलावहं रूपम् दिव्यम् शरीरम् 'य एषोन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते' 'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम्' 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' इत्यादिषु श्रुतिषु प्रसिद्धमित्यर्थः, तत् श्रुतिप्रसिद्धं ते तव रूपं दिव्यमङ्गलविग्रहात्मकं पश्यामि पश्येयम् । छान्दसत्वात् लिडर्थे लट् । भवदीयदिव्यरूपदर्शनोत्कटेच्छयैव एतत्प्रार्थये इतिभावः । ननु पात्रभूतमेव जनं स्वकल्याणतमरूपं दर्शयामि न सर्वमित्याशङ्कायाम् स्वस्य पात्रत्वं परमपुरुषमन्तर्यामितयाऽनुसन्धाय प्रदर्शयति योऽसौ पुरुषः सोऽसौ अहमस्मीति । योऽसौ पुरुषः 'तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्' पुरुष एव सर्वम्' इत्यादिषु श्रुतिषु प्रसिद्धः सर्वव्यापितया सोऽसौ अहमस्मि, अस्मत्शब्दस्य अस्मदर्थान्तर्यामिपरत्वेन श्रुतिप्रसिद्धः

पुरुषः मदन्तर्यामीत्यर्थः । अत्राहंशब्देन परमपुरुष-रूपोन्तर्यामी अनुसंहितः तेन स्वातन्त्र्यभ्रमनिवृत्तिः सूचिता, तथा च त्वत्परतन्त्रोहम् तव कृपायोग्यतया पात्रभूत एवेति कृपावत्सलेन त्वया मह्यं स्वदर्शनं दातव्यमिति प्रार्थना फलिता भवति । ननु 'सोऽसौ अहमस्मि' इत्यत्र अहं पदस्य अस्मदर्थान्तर्यामिपरत्वे सशब्दस्यैव विशेष्यत्त्वात् तत्र उत्तमपुरुषप्रयोगः कथं घटेतेति न शङ्कनीयम् । अधिकं प्रविष्टं न तु तद्धानि रिति न्यायेन अन्तर्यामिरूपस्याधिकस्यार्थस्य प्रवेशेऽपि अस्मच्छब्दार्थस्य लोकप्रसिद्धस्य प्रत्यगर्थरूपस्याऽक्षते रुत्तमपुरुषप्रयोगस्य निराबाधत्वात् । उत्तमपुरुषविधाने 'अस्मद्युत्तमः' इतिसूत्रस्य प्रत्यगर्थबोधकास्मच्छब्द-रूपोपपदमात्रापेक्षणात् ॥१६॥

यथोक्त प्रकार से परमात्मदर्शन में प्रतिबन्धक मनोगत आवरण के निराकरण के लिये प्रार्थना के प्रकार को बतलाकरके इसके बाद परमकृपालु वे आचार्य भगवान् परमात्मा श्रीरामजी का जो कल्याणतमरूप है तादृश रूप के दर्शन में प्रतिबन्धक जो उग्र सौर्य तेज है उसके संहरण करने के लिये तथा दर्शन में सहकारी अति सौम्य रश्मि के संग्रह के लिये प्रार्थना के प्रकार का उपदेश करते हैं-'**पूषन्नित्यादि**' से । हे पूषन् स्वकीयाश्रित भक्त

के पोषक देव। यद्वा सर्व शरीरक होने से सब शब्दों से परमात्मा के वाच्य होने से पूषन् शब्द से भी परमात्मा श्रीरामजी सम्बोधित होते हैं। हे एकर्षे! एक अद्वितीय ऋषि अतीन्द्रिय अर्थ को देखने वाले उसके सम्बोधन में हे एकर्षे। अर्थात् सर्व प्रकार से सब काल में सब वस्तु के साक्षात्कार करने में समर्थ!। अथवा अकेला ही चलने वाला। हे यम ? अन्तः प्रविष्ट हो करके सब को नियन्त्रित करे जो उसे यम कहते हैं उसके सम्बोधन में हे यम! अर्थात् हे सर्वान्तर्यामिन्। अथवा प्रलयकाल में सबका विनाश करनेवाले परमात्मन्। **'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः'** इत्यादि श्रुतिसिद्ध सर्व विनाशक परमात्मन्। हे सूर्य! अपने आश्रित व्यक्तियों की बुद्धि में प्रेरणा देवें जो उसे सूर्य कहते हैं। अर्थात् स्वोपासक व्यक्ति के बुद्धियोगदायी-**'ददामि बुद्धियोगम्'** उसे मैं बुद्धियोग देता हूँ, ऐसा भगवान् श्रीकृष्णजी ने गीता में स्वयं कहा है। अथवा व्यक्तिमात्र को स्वकीय स्वकीय कर्म करने में जो प्रेरणा दे उसे सूर्य कहते हैं। एतादृश हे सूर्य!। हे प्राजापत्य! प्रजा का जो पति उसे प्रजापति कहते हैं और प्रजापति शब्द से स्वार्थिक ष्यञ् प्रत्यय करके प्राजापत्य बनता है अर्थात् हे विश्व के स्वामी भगवन् विष्णो! 'अन्तः गर्भ में प्रजापति संचरण करते

हैं' इत्यादि श्रुतियों से भगवान् में भी प्रजापति का प्रयोग देखने में आता है। यद्वा प्रजापति नाम है चतुर्मुख ब्रह्मा का उसका जो अपत्य उसे प्राजापत्य कहते हैं, उन प्राजापत्यों का अन्तर्यामीभगवान्। आप अपनी रश्मी को अर्थात् स्वकीय दिव्य शरीरगत अत्युग्र किरण को जो कि भवदीय दर्शन में प्रतिबन्धक है उसे उपसंहृत करें। तथा भवदीय दिव्य शरीर के दर्शन में उपयुक्त प्रभारूप तेज को एकत्रित कर लीजिये। तुमको क्या प्रयोजन है जिसलिये मैं उन किरणों को उपसंहृत करुं तथा सोम्यतेजः पुञ्जकरुं जिसलिये तुम प्रार्थना करते हो इस आकांक्षा में प्रयोजन बतलाते हैं-'**यत्ते**' इत्यादि। जो आपका निरतिशयानन्द रूप ब्रह्म का जो कल्याणतम निरतिशय लावण्यादि गुण गण से युक्त होने के कारण अतिशयित कल्याण है अर्थात् सर्वातिशायी मङ्गलप्रद रूप दिव्य शरीर है 'जो यह आदित्य के अभ्यन्तर सर्व सुवर्णमय पुरुष देखने में आता है' जब यह परम सुवर्ण वर्णरूप को देखता है' 'तुमसे परे आदित्य वर्ण पुरुष है' इत्यादि श्रुति प्रसिद्ध है। यह जो श्रुति प्रसिद्ध आपका दिव्य मङ्गलात्मक स्वरूप है उसे मैं देखूँगा। छान्दस होने के कारण यहां लिङ् लकार के अर्थ में लट् लकार का प्रयोग किया गया है। अर्थात् आपके दिव्य शरीर के दर्शन के लिये अति उत्कट इच्छा

होने से ही यह प्रार्थना कर रहा हूँ।

मैं तो जो पात्र योग्य अधिकारी है व्यक्ति है उसी को स्वकीय कल्याणतम स्वरूप का दर्शन देता हूँ, सकल साधारण को नहीं देता हूँ, इस शंका में स्व में पात्रत्व परमपुरुष को अन्तर्यामी रूपसे अनुसन्धान करके कहता है-**'यो सौ पुरुषः सोऽहमस्मीति'** जो वह पुरुष है वह मदन्तर्यामी है अतः मैं भी तत्स्वरूप ही हूँ। इस पुरुष से यह सर्वपूर्ण है। पुरुष ही यह सर्वस्वरूप है। इत्यादि श्रुतियों में प्रसिद्ध सर्वव्यापी रूपसे प्रसिद्ध है वह परपुरुष मदात्मक ही है। यहां अस्मत् शब्द अस्मदर्थ के अन्तर्यामी परक होने से श्रुति प्रसिद्ध पुरुष मेरे अन्तर्यामी हैं। यहां अहं शब्द से अन्तर्यामी परमपुरुष का बोध होता है। इससे जीव में स्वतन्त्रता भ्रम की निवृत्ति होती है। मैं आपके पराधीन हूँ, आपकी कृपा योग्य होने से मैं भी पात्रभूत हूँ अतः कृपावत्सल आप मुझे स्वकीय दर्शन दीजिए। इसप्रकार की प्रार्थना फलित होती है। **'योऽसौ अहमस्मि'** इस जगह में जब अहं शब्द अस्मदर्थ के अन्तर्यामीपरक है तब तो स शब्द (तत्शब्द) विशेष्य हुआ तब उत्तम पुरुष का प्रयोग किस तरह से होगा ? ऐसी शंका ठीक नहीं है क्योंकि 'अधिक प्रविष्ट हुआ तो इससे कोई हानि नहीं है' इस न्याय से अन्तर्यामीरूप अधिक

अर्थ के प्रवेश होने पर भी लोकप्रसिद्ध जो अस्मत् शब्द का अर्थ है जो कि प्रत्यगर्थ जीव है वह तो विद्यमान ही है। अतः उत्तम पुरुष के प्रयोग में कोई क्षति नहीं है। उत्तम पुरुष के विधान में-'**अस्मद्युत्तमः**' इस सूत्र को प्रत्यगर्थ बोधक अस्मत् शब्द रूप उपपदमात्र की अपेक्षा है ॥१६॥

शरीरस्य भस्मान्तत्वेन मृतत्वम् आत्मनश्चामृतत्व प्रतिपादनेन प्रकृतिविविक्तं जीवात्मानं प्रोक्षणादिना व्रीह्यादीनिव विशोध्य ओंकारबोधिते परमात्मनि स-मर्प्य तदनुग्रहं प्रार्थयते-

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम् ।

ॐक्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर१७

विद्या एवं कर्म के फलस्वरूप सर्वेश्वर श्रीरामजी के सङ्कल्पानु सार एक शरीर से दूसरे शरीर एवं मर्त्यलोक से दिव्यधाम श्रीसाकेत में गमन करनेवाला जीवात्मा स्थाई निवास रहित है और कहीं भी व्यवस्थित रूपसे नहीं रहने वाला चेतन स्वरूप और भोक्ता है एवं धर्म से तथा स्वरूप से नाशरहित है। पूर्वोक्त भोक्ता जीव के निरूपण के वाद फल भोक्ता यह प्रकृतिक स्थूल शरीर कर्म के वशहोने से अन्त में भस्म स्वरूप है अतः हे सर्वेश्वर श्रीरामजी ! यज्ञरूप हे श्री रघुनाथजी ! अपनी प्रतिज्ञा को स्मरण कर दीन हीन आपके शरण में आये मेरा स्मरण करें सर्वशरण्य श्रीरामजी ! मेरे से हुये कर्मों का स्मरण कर कर्म फलानुरूप योनि प्रदान करें दयालु यज्ञरूप श्रीरामजी ! मेरे कर्मों का स्मरण कर मुझे योग्य गति या योनि प्रदान करें ॥१७॥

वाति देवमनुष्यादियोनिषु स्वीयविद्यानुगुणेन स्व कर्मानुगुणेन वा परमपुरुषसंकल्पेन गच्छति इति वायुः तत्र तत्र योनौ गमनशीलः, वा गतिगन्धनयोरिति गत्यर्थोऽत्र वा धातुः । कृमिकीटादिसूक्ष्मदेहेषु अपि-गन्तृत्वात् अणूपरिमाणताऽत्रजीवात्मनः दर्शिता भवति। अनिलम्, मृतमित्यत्र छान्दसं नपुंसकत्वम् । पुंल्लिङ्गेन वायुशब्देन उपक्रमे आभ्यामपि पुंल्लिङ्गाभ्या मेव भाव्यत्वात् तथैव व्याख्यातव्यत्वात् । लीयते इति निलः तद्भिन्नः अनिलः निलयहीनः जीवात्मा हि स्व रूपतो धर्मतश्च न लीयते तादृश इत्यर्थः । 'अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा' इति श्रुत्या जीवस्य तद्धर्मभूतज्ञानस्य लयराहित्यबोधनात् । अथवा अनिलः पवनः सततगतिशीलतया क्वचित् व्यवस्थितो न भवति तस्मात् अनिल इत्युच्यते तद्वत् जीवोऽपि क्वचिद्देहे व्यवस्थितो न भवति कर्मभोगे सम्पन्ने ततोऽपक्रामति अतः अनिलः अनिलसदृश इत्यर्थः । अमृतः जरा-मरणादिस्वभावे देहे विशन्नपि स्वयं जरामरणादि शून्यः देहसम्बन्धात् तद्गतजन्मजरामरणादिकं जी-वेऽप्यारोप्यते इति तु अन्यदेतत् । 'अयमात्मा अपहत पाप्मा विरजो विमृत्युः' इत्यादिश्रुतिभिः जीवस्य मर णादिशून्यतावगमात् । ननु वायुरनिलममृतमितिशब्दैः

परमपुरुष एव प्रतिपाद्यताम्, परमात्मपरत्वस्यापि योगादिना तेषां सम्भवात् इति तु न शंकनीयम् 'क्षरः प्रधानममृताक्षरं हरः' इतिश्रुतौ 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च' इति स्मृतौ च क्षरशब्दसमव्याहृते-नाक्षरशब्देन जीवस्यैव ग्रहणवत् इहापि द्वितीयपादस्थ शरीरशब्दसमभिव्याहारेण वायुरनिलममृतमितिशब्दैः जीवात्मनः एव ग्रहणस्य उचितत्वात् 'क्षरात्मानावी शते देव एकः, उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः' इत्यादिवत् । अत्र मन्त्रे परमात्मबोधकशब्दान्तराभावाच्च परमात्मविषयकत्वकल्पनस्यायोग्यत्वात् । जीवस्या-मृतत्वमभिधाय तच्छरीरस्य मृतत्वविवेकं प्रदर्शयितु वदति-

अथेदं भस्मान्तं शरीरम् । अथशब्दः उक्तात् जीवात् अर्थान्तरं तदीयशरीरमिति बोधयति । इदं दृश्यमानं प्रेमास्पदतया प्रतीयमानं भोगसाधनीभूतं रमणीयम् शरीरम् विशरणस्वभावं वपुः कर्माधीनं वपुः भस्मान्तं भस्म अन्तः चरमः परिणामो यस्य तादृशम्, दाहसंस्कारे सति भस्मरूपं भवतीत्यर्थः । इदञ्च विडन्तत्वस्यापि उपलक्षकम् । 'भस्मान्ता वा विडन्ता वा' इतिश्रुत्यन्तरे विडन्ततायाा अपि श्रवणात् । व्याघ्रादिना भक्षितस्य जलादौ मकरादिना भक्षितस्य

च शरीरस्य विड्रूपचरमपरिणामदर्शनाच्च । एवम-मृतत्वमृतत्वप्रतिपादनद्वारा जीवतच्छरीरयोः विवेकः प्रदर्शितः । इदं शब्देन च दृश्यमानशरीरस्यैव भस्मान्तत्वकथनात् अकर्मवश्यस्य भगवच्छरीरस्य व्यावृत्तिः कृता भवति । एवं परिशोधितं प्रत्यगात्मानं श्रुत्यन्तरे धनुष्ट्वेन रूपितंप्रणवद्वारा परमात्मनि योजयति 'ॐ इति ।' प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते । अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयोभवेत्' (मु. २।२।४) इत्यादिश्रुतिषु प्रणवद्वारकात्मसमर्पणस्य दर्तिशत्वात् तदेवेहापि प्रतिपादितम् । यद्वा पूर्वार्धेन जीवात्मनोः विवेकमुपदर्श्य 'ॐ' इत्यनेन परमात्मानं विविनक्ति प्रणवस्य परमात्मवाचकत्वात् 'तस्य वाचकः प्रणवः' इतियोगसूत्रानुसारातः । एवं चिदचित्परमात्मतत्वं विविच्य क्रतुरूपं परमात्मानं स्वस्मिन्ननुग्रहाय प्रार्थयते 'क्रतो स्मर सर्वैः क्रतुभिराराध्यतया परमपुरुष एव क्रतुः 'अहं क्रतुरहं यज्ञः' इति भगवद्वचनात् साक्षादपि सक्रतुः, उपासनवाचकस्य क्रतुशब्दस्य उपास्ये परम पुरुष उपचारादपि परमपुरुष एव क्रतु तत्संबुद्धौ क्रतो क्रत्वाराध्य, ज्योतिष्टोमादिस्वरूप, सर्वक्रतुनिकरस मुपास्य इति वा अर्थः । स्मर, त्वामुपासमानं मां स्मरणात्मकया बुद्ध्या विषयीकुरु । कृतम् त्वत्प्रीतये

मयाऽनुष्ठितं कर्मयोगाद्युपासनपर्यन्तं कर्म यत्किञ्चित् तदपि स्मर, मत्कृतकर्मसु आनुकूल्यसङ्कल्पं कृत्वा यदि न पर्याप्तं त्वत्प्रीतये तदा त्वमेवावशिष्टं पूरय । केचन समर्थाः अन्तकालेऽपि त्वां स्मरन्ति योगेन स्वहृदये त्वां धारयितुं कृताभ्यासाः, अहन्तु तत्राऽसमर्थः अतः त्वमेव मदीयं त्वत्प्रीणनात्मकं कर्मजातं स्मर, इति वाऽनुग्रहं एतेन प्रार्थयते । द्विरुक्तिरादरातिशयद्योतनार्था ॥१७॥

शरीर के भस्मान्त होने से मृतत्व तथा आत्मा का अमृतत्व प्रतिपादन करने से प्रकृति विविक्त (भिन्न) जीवात्मा को प्रोक्षणादि से व्रीहि की तरह विशोधित करके ओंकार बोधित परमात्मा में जीव को समर्पित करके परमात्मा श्रीरामजी के अनुग्रह की प्रार्थना करते हैं- **'वायुरनिलमित्यादि'** से वायुरिति वाति देव मनुष्य तिर्यगादिक योनियों में उपासना कर्मानुष्ठान के बल से अथवा परमपुरुष परमात्मा के सङ्कल्पाधीन हो करके जो आवे जावे उसे वायु कहते हैं अर्थात् तत्तद् योनि में गमनशील। **'वागतिबन्धनयोः'** इत्याकारक गत्यर्थक वा धातु से वायु पद की सिद्धि होती है अतः वायु शब्द का अर्थ हुआ जीवात्मा। कृमि कीटादिक अतिसूक्ष्म शरीर में भी आवा गमन करने से जीवात्मा को अणु परिमाणवान् है ऐसा बतलाया गया है। **'अनिलममृतम्'** यहां जो

नपुंसक लिङ्ग का प्रयोग किया है वह छान्दस होने से है क्योंकि पुल्लिङ्ग वायु शब्द से उपक्रम किया है तब अनिल अमृत में भी पुल्लिङ्ग का ही प्रयोग होना उचित है। और उसी तरह से व्याख्यान भी करने का है। लीयमान होने से उसे निल कहते हैं। उससे भिन्न हो उसका नाम है अनिल अर्थात् निलयहीन। जीवात्मा स्वरूप से तथा धर्म से कभी भी लीयमान अर्थात् विनष्ट नहीं होता है इसलिये जीव को अनिल कहते हैं। 'अरे मैत्रीय यह आत्मा अविनाशी है उच्छेद विनाश धर्मवाला नहीं है' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा जीव का तथा जीव का धर्मभूत जो ज्ञान है उसे लय राहित्य का प्रतिपादन किया गया है। अथवा अनिल पवन वह सर्वदा गतिशील होने से एक जगह कहीं भी व्यवस्थित नहीं रहता है इसीलिये वायु को अनिल कहते हैं उसी तरह यह जीव भी स्वकीय पुण्यापुण्य नदीरूप स्रोत से सर्वदा उह्यमान होने से एक देह में व्यवस्थित नहीं रह सकता है। जिस देह का निर्वाहक कर्म से उपभोग होने पर उस शरीर से चला जाता है। ऐसा कहा भी है-

उद्घाटित नव द्वारे पुरे तिष्ठन् खगोनिलः।
तिष्ठतीत्येवमाश्चर्यं गच्छतीतिकिमद्भुतम्॥

उद्घाटित है चक्षु श्रोत्रादिक नव द्वार जिसमें एतादृश

शरीररूपी नगर में रहनेवाला अनिल जीवरूप पक्षी बैठा रहता है यही आश्चर्य है । और यह निकल करके चला जाता है तो इसमें आश्चर्य क्या है ? इससे यह सिद्ध होता है कि नारद के समान जीव कहीं व्यवस्थित हो कहके नहीं रहता है । अतः जीव अनिल है अर्थात् अनिल सदृश है । **'अमृतमिति'** अमृत है जीव । जरामरणादि स्वभाववाला शरीर में सर्वदा रहता हुआ भी जीव स्वयं जरामरणादि से रहित है । यद्यपि एतादृश जीव स्वरूपतः है तथापि शरीर सम्बन्ध से शरीरगत जरामरणादि का जीव में आरोपमात्र होता है । कुंकुम की अरुणता से परिलिप्त तरुणी के समान । यह अलग वस्तु है । 'यह आत्मा अपहतपाप्मा है रजोगुण रहित है और मरणरूप धर्म से स्वभावतः रहित है' इत्यादि श्रुतियों से जीव में स्वभावतः मरणादि राहित्य का प्रतिपादन किया गया है । नहीं कहें कि वायु अनिल अमृत शब्दों से परमपुरुष परमात्मा का ही क्यों न प्रतिपादन किया जाय क्योंकि योगार्थ को ले करके परमात्मा में भी तो घट सकता है । तो ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि 'प्रधान प्रकृति क्षर चलायमान है और हर जीव अमृत और अक्षर है' इति । एवं 'इस लोक में दो प्रकार के पुरुष हैं एक क्षर तथा दूसरा अक्षर' इस स्मृति में जिसतरह क्षर शब्द के समभिव्याहार

में अक्षर शब्द जीव बोधक है उसीतरह यहां भी द्वितीय पाद स्थित शरीर शब्द के समभिव्याहार से वायु अनिल और अमृत शब्दों से जीवात्मा का ग्रहण करना ही उचित होगा किन्तु परमात्मा का ग्रहण करना उचित नहीं होगा। और भी देखिये 'एक देव कोई ऐसे हैं जो क्षर तथा आत्मा के ऊपर नियन्त्रण रखनेवाले हैं' इनसे भिन्न एक उत्तम पुरुष है जो कि परमात्मा शब्द से कहा जाता है' इस स्थल में जिसतरह परमात्मा का बोधक शब्द विद्यमान है उस तरह से प्रकृत मन्त्र में परमात्मा का बोधक कोई शब्द नहीं है। अतः इस मन्त्र में वायु प्रभृति शब्द से योगार्थ को केवल वायु प्रभृति शब्द की परमात्मपरत्व की कल्पना करना अयोग्य है।

पूर्वोक्त प्रकार से जीव में अमृतत्व का प्रतिपादन करके जीव शरीर में मरण धर्मित्व का प्रतिपादन करने के लिये कहते हैं–**'अथेदमित्यादि' 'अथेदंभस्मान्तं शरीरम्'** यहां जो अथ शब्द है वह उक्त जो जीव तादृश जीव से अति भिन्न जीव शरीर का बोधक है। यह परिदृश्यमान प्रेमास्पदरूप से प्रतीयमान भोग का साधन अत्यन्त रमणीयतारूप से आभासमान शरीर विनश्वर स्वभाववाला है कर्मबल से जो शरीर प्राप्त होता है वह आयु की समाप्ति में भस्मान्त हो जाता है। भस्म है अन्त

चरम परि पाक (परिणाम) जिसका तादृश बनता है। अर्थात् ऋत्विजों के द्वारा दाह संस्कार हो जाने पर भस्मावशेष हो जाता है। भस्मान्त पद विडन्त तथा रसान्तता का भी उपलक्षक है। **'भस्मान्तावाविडन्तावार सान्ता वा'** इत्यादि श्रुत्यन्तर में भस्मान्तता की तरह रसान्तता विडन्तता भी श्रूयमाण है। व्याघ्रादि से भक्षित हो जाने पर अथवा जल में मकरादि जीवों से भक्षित हो जाने से इस शरीर का विष्ठारूप ही परिणाम देखने में आता है। (अर्थात् मृत शरीर की तीन गति होती है। प्रथम तो नैधन विधान से पुत्रादि ऋत्विक अग्नि में जला देते हैं तो वह शरीर जो कि पांचभौतिक है वह भस्माव शेष हो जाता है। द्वितीय जो व्याघ्रादि वन्य जन्तुओं से अथवा जल में ग्राह मकरादि से भक्षित हो जाता है तो वह विष्ठारूप हो जाता है। तृतीय जो पथिवी में गाड दिया गया, तो वह रसान्त हो जाता है, रसान्त नाम है पृथिवी का **'रसा विश्वंभरा'** इत्यादि कोष से। अथवा रस नाम है जल का तो जल में जो शरीर सड़जाता है तो वह जल में मिल जाने से रसान्त हो जाता है।')

इसप्रकार अमृतत्व और मृतत्व के प्रतिपादन द्वारा जीव तथा जीव के शरीर में परस्पर भेद का प्रतिपादन किया गया। **'अथेदम्'** यहां इदम् शब्द से दृश्यमान

भौतिक शरीर की ही भस्मान्तता का कथन करने से अकर्म वश्य लोकोत्तर भगवान् के शरीर की व्यावृत्ति की गई। इसप्रकार परिशोधित जो जीवात्मा है उस जीव को श्रुत्यन्तर में धनुष रूपसे उपमित प्रणव द्वारा परमात्मा में योजित करने के लिये कहते हैं-**'ओमिति'** प्रणव ओंकार धनुष है जीवात्मा बाण है और लक्ष्य ब्रह्म परमात्मा है। अप्रमत्त होकर अर्थात् खूब सावधान होकर वेधित करना चाहिये। शरवान् धनुषधारी के समान तन्मय हो जाना चाहिये, इत्यादि मुण्डकादिक श्रुतियों में प्रणव द्वारा परमात्मा में आत्म समर्पण को बतलाया गया है। उसी बात का प्रतिपादन यहां भी किया गया है।

यद्वा पूर्वार्ध से जीवात्मा के विवेक को बतला करके **'ओम्'** इस प्रतीक से परमात्मा के स्वरूप को विवेक पूर्वक बतलाते हैं क्योंकि प्रणव ओंकार परमात्मा का वाचक है। **'तस्य वाचकः प्रणवः'** उस परमात्मा का वाचक प्रणव है। इसप्रकार योगसूत्र में कहा है। इस चित् जीव अचित् शरीरादिक जडतत्व और परमात्मतत्व का विवेचन करके क्रतु स्वरूप परमात्मा का अपने ऊपर अनुग्रह करने के लिये प्रार्थना करता है **'क्रतो स्मर'** सब क्रतुओं से आराध्य होने के कारण परमात्मा ही क्रतु हैं। एवं **'अहंक्रतुरहंयज्ञः'** मैं ही क्रतु हूँ मैं यज्ञरूप हूँ।

इत्यादि भगवद् वाक्य से साक्षात् भी भगवान् क्रतुरूप हैं। उपासना का वाचक जो क्रतु शब्द है उस क्रतु शब्द का उपास्य परमपुरुष में उपचार से भी परमपुरुष ही क्रतु पद बोध्य होते हैं। उस क्रतु शब्द का सम्बोधन में है हे क्रतो? अर्थात् क्रतु से आराध्य ज्योतिष्टोमादि स्वरूप अथवा क्रतु समुदाय से समुपास्य परमपुरुष ? आप हमें स्मरण करें आपकी उपासना करने वाले मुझे स्मरणात्मक बुद्धि वृत्ति का विषय बनायें। **'कृतमिति'** आपके प्रीत्यर्थ जो मैं ने अनुष्ठान किया है अर्थात् कर्मयोग उपासना पर्यन्त जो कुछ मैंने कर्म किया है उनका भी स्मरण करें। हम से किये हुए कर्म में अनुकूलता का संकल्प करके यदि वे कर्म आपकी प्रीति के लिये पर्याप्त न हुआ तो अवशिष्ट कर्म को आप ही पूरा कर दें। कोई कोई समर्थ व्यक्ति अन्तकाल में भी योग द्वारा स्वहृदय में अवस्थित आपका स्मरण करता है। परन्तु मैं तो तादृश कर्म में असमर्थ हूँ, अतः आप ही मदीय तादृश प्रीणनात्मक कर्म समुदाय का स्मरण करें। इससे भगवदनुकम्पा की याचना करता है यह फलित हुआ। द्विर्वचन आदरार्थक है ॥१७॥

एवं प्रकृतिविविक्तप्रत्यगात्मानं परमात्मानं चानुसन्धाय चरममन्त्रेण एननिवृत्तिपूर्वकभगत्प्राप्तये गति विशेषेण नयनप्रार्थनां शरणागतः विधत्ते।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो
भूयिष्ठान्ते नमउक्तिं विधेम ॥१८॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्यपूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

卐 इति ईशावास्योपनिषद् 卐

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

हे सर्वशरण्य अंग्निरूप श्रीरामजी ? अनन्यगति वाले हमसवों को जीवात्मा के एकमात्र धन श्रीरघुनाथजी के कैंकर्य में पहुँचाने हेतु अर्चिरादि मार्ग से ले जांय मेरे अन्तःकरण में प्रकाशमान सर्वपूज्य हे श्रीरामजी ? आप हमारे समस्त कर्मों या बुद्धि वैभव के ज्ञाता हो अतः किये गये निषेध कर्मों तथा विहित कर्मों के न करने सम्बन्धी कुटिल–बन्धनरूप पापों को हमसे दूर करदें तदर्थ आपकी बहुत स्तुति–प्रार्थना हम करते हैं ।

इन १७ तथा १८ वें मन्त्रों से श्रीरामशरणागति का उपदेश हुआ है क्योंकि सर्वेश्वर श्रीरामजी की शरणागति स्वीकार विना जीवों को सायुज्य मुक्ति सम्भव नहीं है अतः शरणागतवत्सल श्रीरामजी की शरणागति अवश्य स्वीकार करनी चाहिये सायुज्य मुक्ति की इच्छा वालों को ॥१८॥

आनन्दभाष्यसिंहासनासीन

जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यश्रीरामेश्वरानन्दाचार्य

प्रणीता लघुदीपिका समाप्ता

卐 श्रीरामः शरणं मम 卐

अग्ने अग्रे नयतीति अग्निः तत्सम्बुद्धिः । अग्रनयनादिगुणगणोपेत, भक्तानामूर्ध्वगतिप्रापकेत्यर्थः । अस्मान्त्वच्छरणं प्रपन्नान् इतरगतिविहीनान् सुपथा शोभनेन पथा अर्चिरादिमार्गेण नय प्रापय स्वधामदेशविशेषरूपम् । अर्चिरादिः मार्गः भगवदुपासनावतां कृते प्रसिद्धः । किमर्थमित्याशंकायामाह-राये राः धनम् तच्च भगवत्प्रपन्नानां भगवानेव तेषां भगवदतिरिक्तधनेषु वैतृष्ण्यात् । तस्मै परमपुरुषरूपधनाय तत्प्राप्त्यर्थमित्यर्थः। ननु तदर्थं मामेव कुतः प्रार्थयसे इत्यत्राह-हे देव द्योतमान मम बुद्धौ प्रकाशमानेत्यर्थः । त्वम् विश्वानि सर्वाणि वयुनानि उपायान् विद्वान् जानन्नसि, सकलपुरुषार्थ यथावदज्ञानवत्तया त्वमेव त्वत्प्रापकमार्गेण नेतुं समर्थोऽसि, अतस्त्वामेव प्रार्थये इतिभावः । नन्वहमपि पापात्मानमनेन पथा नैव नयामीत्यत्राह-युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः । जहुराणम् कुचिलम् त्वत्प्राप्तिप्रतिबन्धकम् एनः कर्तव्याऽकरणाकर्तव्यकरणजन्यपापम् फलाभिसन्धिपूर्वकावहितकरणजन्यपुण्यरूपञ्च पुण्यस्यापि फलाकांक्षया कृतकर्मजन्यभगवत्प्राप्तिप्रतिबन्धकत्वेन पापशब्देन, मुमुक्षुभिर्ग्रहणात् । अ

स्मत् मत्तः युयोधि वियोजय दूरीकुरु इत्यर्थः । 'सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्यामिति श्रुत्यनुसारेण पुरुषान्तरे प्रापय मदेनः यथेच्छं विनाशय वा अस्मत्सकाशात् तु पृथक् कुरु एवेतिभावः । एवमपिकिमर्थं करोमीत्यत्राह-भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम । भूयिष्ठां पौनः पुन्येन अतिशयेन बह्वीं नम उक्तिम् नमोवाकम् नमःपदोच्चारणं ते तुभ्यं विधेम कुर्महे । त्वं हि अस्माकं निरुपाधिकः स्वामी प्राप्तसमस्तकामश्च अहं तु त्वदेकशरणोऽनन्यगतिश्च अतः निरपेक्षाय तुभ्यं नमस्कारातिरिक्तं किमपि दातुमसमर्थ इत्यकिञ्चनस्य मम नमस्कारमात्रेण त्वत्प्राप्तिप्रतिबन्धककिल्विषापहरणं विधत्स्वेत्यर्थः । नमस्कारातिरिक्तं किमपि त्वत्प्रीतिजनकं मत्साध्यं नास्तीति वारम्वारं तव नस्कारानेवाचराम इतिभावः । अत्र चरममन्त्रद्वयेन सकलफलनिदानभूता शरणागतिः प्रतिपादिताभवति ॥१८॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानन्दाचार्यकृतानन्दभाष्यभूषिता

❀ ईशावास्योपनिषत् ❀

इसप्रकार प्रकृति से भिन्न प्रत्यगात्म तथा परमात्मा को जानकर अन्तिम मन्त्र से पाप निवृत्तिपूर्वक

भगवान् श्रीरामजी के धाम की प्राप्ति के लिये वह शरणागत पुरुष उत्तर मार्ग से जाने के लिये सर्वेश्वर श्रीरामजी से प्रार्थना करता है-**'अग्ने नय'** इत्यादि से। आगे जो चले उसका नाम होता है अग्नि, उसका संबोधन में हे अग्ने ? अर्थात् अग्रनयनादि गुणगण से युक्त ? भक्तों को ऊर्ध्वगति प्रापक परम पुरुष श्रीरामजी ? इतरगति विहीन मात्र आपकी शरण प्राप्त मुझे शोभन मार्ग से ले चलें। अर्थात् अर्चिरादि मार्ग से अपने धाम के प्रति हमें ले चलिये। भगवद्धाम प्राप्ति के लियें अर्चिरादि मार्ग शास्त्र में अतिप्रसिद्ध है। किस लिये मैं तुम्हें अर्चिरादि मार्ग से ले चलूं ? इस जिज्ञासा में कहते हैं–**राये** इति। रा नाम है धन का, वह धन भगवत्प्रपन्न व्यक्तियों के भगवान् ही हैं क्योंकि भगवत् प्रपन्न व्यक्ति को भगवान् से अतिरिक्त वस्तु विषयक तृष्णा निवृत्ति हो जाती है। तादृश परमपुरुषरूप धन की प्राप्ति के लिये आप से अर्चिरादि मार्ग की याचना करता हूँ। अरे भाई ? तो इसलिये हमारी प्रार्थना क्यों करते हो ? इस जिज्ञासा के उत्तर में कहते हैं **'देव'** इति। हे द्योतमान देव अर्थात् मेरे अन्तःकरण में सर्वदा

प्रकाशमान परमपुरुष श्रीरामजी ? आप सकल विश्व वयुन उपाय को जानते हैं । सकलपुरुषार्थ विषयक यथार्थ ज्ञानवान् होने से आप ही भगवत् प्रापक मार्ग से ले चलने में समर्थ हैं अतः आप से ही निवेदन कर रहा हूँ, भगवदतिरिक्त ऐसा दूसरा कोई नहीं है जिसके यहां हमारी याचना फलित हो । (किसी ने कहा भी है–'**दयालोरसमर्थस्य दुःखायैव दयालुता । दीनोद्धारधुरीणस्य सा तवैकेन शोभते ॥**' असमर्थ पुरुष की जो दयालुता है वह तो दुःख का ही कारण है क्योंकि असमर्थ होने के कारण वह कुछ नहीं कर सकता है परन्तु सर्व समर्थ आप में ही उस दयालुता की शोभा है अर्थात् आप प्रसन्न होते हैं तब सब कर सकते हैं । सर्वतन्त्र हैं । इसलिये व्यक्त्यन्तर को छोड करके आपके यहां ही याचना कर रहा हूँ ।) अरे मैं भी तो पापी को इस मार्ग से नहीं ले जाता हूँ, इसके उत्तर में कहते हैं–'**युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः**' इति । जुहुराण कुटिल अर्थात् आपकी प्राप्ति में प्रतिबन्धक जो एनस कर्तव्य का अकरण तथा अकर्तव्य का करणजन्य पाप तथा फलाभिसन्धिपूर्वक कृतपुण्य एवं फलाभिसन्धि पूर्वक क्रियमाण पुण्य भी भगवत् प्राप्ति में प्रतिबन्धक

होने से उसे भी मुमुक्षु लोगों ने पाप शब्द से ही कथन किया है। एतादृश पाप को हम से दूर कर दीजिये। मित्र के यहां साधु कृत्य जाता है अमित्र के यहां पापकर्म जाता है। इस श्रुत्यनुसार अथवा जैसी आपकी इच्छा हो ऐसा कीजिये किन्तु इससे इस पाप को सर्वथा दूर कर दीजिये। ऐसा भी मैं क्यों करुँ ? तत्राह- **'भूयिष्ठाम्'** इति। वारं वार मैं आपको नमस्कार करता हूँ। क्योंकि आप हमारे निरूपाधिक स्वामी हैं और अवाप्त सकल काम हैं और मैं तो आपकी शरण में हूँ, अनन्यगतिक हूँ, अतः निरपेक्ष आपके लिये नमस्कार से अतिरिक्त मैं क्या दे सकता हूँ। अतः अकिञ्चन मुझको नमस्कार मात्र से आपके दर्शन का प्रतिबन्धक पाप को हटा दें। यहां अन्तिम मन्त्र द्वय से शरणागति का प्रतिपादन किया गया अतः सर्वेश्वर श्रीरामजी की शरणागति स्वीकार किये बिना जीवात्मा को सायुज्यमुक्ति दुर्लभ है यह वेदान्त का निर्गलित अर्थ हुआ ॥१८॥

आनन्दभाष्यसिंहासनासीन

जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्यश्रीरामेश्वरानन्दाचार्य

प्रणीत प्रकाश

卐 श्रीरामः शरणं मम 卐